Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वर्ष ५, अंक २ जुलाई १९८९

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

संपादक
यशदेव शल्य

सहयोगी
गोविन्दचन्द्र पांडे, दयाकृष्ण
राजेन्द्रप्रसाद पांडेय, रमेशचन्द्र शाह

दर्शन प्रतिष्ठान

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सूचना

उन्मीलन के लिए हम उच्च स्तर के दार्शनिक लेख अपेक्षित संख्या में प्राप्त करने में असफल रहे हैं, इसलिए हमने दर्शन को मुख्य विषय रखते हुए कुछ अन्य विचारपूर्ण लेखों को भी स्वीकार करने का निर्णय किया है। उसी के अनुसार हमने इस अंक में लेख सं. ३ और ४ प्रकाशित किये हैं। भविष्य में भी हमारी यही नीति रहेगी।

निवेदन

उन्मीलन का प्रकाशन आरंभ करने से पहले हमने दार्शनिक सहयोगियों से एक-एक सौ रुपया अग्रिम शुल्क के रूप में देने के लिए निवेदन किया था। उसके उत्तर में बहुतों ने हमें यह राशि भिजवायी थी जिससे इस पत्रिका का आरंभ हो सका। अब यदि वे मित्र रु० 200/– और भिजवा कर आजीवन सदस्य होने की कृपा कर सकें तो इससे हमें बहुत सहारा मिले। अन्यथा १९९० के लिए 30/– वार्षिक शुल्क भिजवाने का अनुग्रह करें। 1990 से उन्मीलन का वार्षिक शुल्क ३०/– तथा आजीवन शुल्क ३००/– करने की हम अपने सब सहयोगियों से अनुमति चाहते हैं।

आभार-प्रदर्शन

भारत भवन, भोपाल ने उन्मीलन के प्रकाशनार्थ दस हज़ार रुपया अनुदान दिया है। इस अंक का प्रकाशन उसी राशि से किया जा रहा है। इसके लिए हम भारत भवन के न्यासी सचिव श्री अशोक वाजपेयी के प्रति तथा अन्य सम्बद्ध अधिकारियों के प्रति अत्यधिक आभारी हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उन्मीलन
मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

विषय-सूची

१. संप्रत्ययन और वैयक्तिक एकत्व	राजेन्द्रप्रसाद पांडेय	७७
२. भाषा	यशदेव शल्य	८७
३. भारतीय संस्कृति: परिवर्तन की चुनौती	रमेशचन्द्र शाह	१०५
४. स्वतंत्र स्त्री	मुकुंद लाठ	११५
५. उन्मीलन-गोष्ठी की कार्यवाही		१३५
६. पुस्तक-समीक्षा		१४६-१६४

आजीवन शुल्क :		वार्षिक शुल्क	
व्यक्ति	रु. ३००.००	व्यक्ति	रु. ३०.००
संस्थाएं	रु. २०००.००	संस्थाएं	रु. ५०.००

दर्शन प्रतिष्ठान

यशदेव शल्य द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर के लिए पी-५१, मधुवन पश्चिम, टोंक रोड, किसान मार्ग, जयपुर-302015 से प्रकाशित तथा जेक प्रिंटर्स, किसान मार्ग, जयपुर में मुद्रित ।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

1

संप्रत्ययन और वैयक्तिक एकत्व

राजेन्द्रप्रसाद पांडेय

हमारे आत्म-स्वरूप से संबंधित एक समस्या ने प्रायः दार्शनिकों का ध्यान आकर्षित किया है। समस्या यह है कि जो वैयक्तिक एकत्व हमारे लिए सहजतः ही बोधगम्य है, उसकी युक्तियुक्त व्याख्या कैसे की जाये। कुछ दार्शनिक, यथा ह्यूम, मानते हैं कि वैयक्तिक एकत्व से विशिष्ट हमारा आत्म-स्वरूप वस्तुतः एक जटिल संप्रत्ययन-प्रक्रिया मात्र है, अर्थात् वह अनुभवाधारित स्मृति एवं कल्पना द्वारा उत्पन्न एक मानसिक संस्कार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। कुछ अन्य दार्शनिक, जैसे कांट, मानते हैं कि आत्म का स्वरूप एक अतिक्रामी तत्त्व का है जो तद् रूप में हमारी समूची संप्रत्ययन-प्रक्रिया का अनुभव-पूर्व आक्षिप्त आधार है और इसलिए वैयक्तिक एकत्व का हमारा बोध उस अतिक्रामी आत्म-तत्त्व की आद्य एकता का ही अनुभवों के धरातल पर होने वाला बोध है। यहाँ उल्लेखनीय है कि यद्यपि उपर्युक्त दो दार्शनिक मत परस्पर भिन्न मत हैं तथापि आश्चर्यजनक ढंग से उनका निष्कर्ष एक ही है—यह कि हमारे लिए आत्म-तत्त्व का ज्ञान असंभव है। किन्तु इसी आधार से जबकि एक मत वैयक्तिक एकत्व को संप्रत्ययन-प्रक्रिया में ही संरचित मानता है, दूसरा मत उसे संप्रत्ययन-प्रक्रिया में पूर्व प्रक्षिप्त आधार मानने के कारण मूलतः अव्याख्येय मानता है। दूसरी ओर, विशुद्ध आत्म तत्त्व के ज्ञान को संभव मानने वाले भारतीय परंपरा के दार्शनिक ऐसे ज्ञान को समूची संप्रत्ययन-प्रक्रिया से नितांत परे समझते हैं, यद्यपि वे भी स्वीकार करते हैं कि उस संदर्भ में वैयक्तिक एकत्व की व्याख्या के लिए हमें संप्रत्ययन का ही सहारा लेना होगा।

इस तरह, उपर्युक्त सभी मत इतना तो स्वीकार करते ही हैं कि बिना संप्रत्ययन-प्रक्रिया के संदर्भ के वैयक्तिक एकत्व पर विचार किया ही नहीं जा सकता। किन्तु यहाँ यह प्रश्न उठाया जाना चाहिए कि दर्शन में वैयक्तिक एकत्व पर विचार की आवश्यकता ही क्यों है? शायद इसलिए क्योंकि उसके बिना ज्ञान में चेतना द्वारा विषय की ग्रहणशीलता को

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

समझ पाना संभव नहीं। क्या विषय-ज्ञान बिना चेतना में विषय-ग्रहण के भी संभव है? इसे एक अतिप्रश्न कहना होगा, अर्थात् ऐसा प्रश्न जिसका उत्तर सिद्धांततः असंभव है, यदि इससे आशय यह हो कि विषय-ज्ञान वस्तुतः किसी ज्ञाता का ज्ञान नहीं है। औपनिषदिक शैली में कहें तो, जो विषय-ज्ञान के अर्थ में ज्ञाता को आधारभूत नहीं मानता उसका विषय-ज्ञान निश्चत ही अ-ज्ञान है। किन्तु तब शायद कोई यह कहे कि ज्ञाता विषय-ज्ञान में ही संरचित है और इसलिए विषय-ज्ञान से पृथक् ज्ञाता की पूर्वकल्पना का न तो कोई तर्कसम्मत आधार है और न ही सैद्धांतिक उपादेयता (ह्यूम), तो उस स्थिति में हमें यह भी मानना होगा कि विषय-ज्ञान के संदर्भ में ज्ञाताओं के बीच जो सहज भेद पाया जाता है उसकी समुचित व्याख्या नहीं की जा सकती। अवश्य हमारे साधारण अनुभवों के बारे में कहा जा सकता है कि वे प्रत्येक स्थिति में ज्ञाता-भाव को पृथक्कृत नहीं करते; किन्तु तब भी, जैसा कि मूर ने प्रत्ययवाद की अपनी आलोचना में बताया, संज्ञान में ज्ञातृ-चेतना को उसके विषय से पृथक् मानना ही होगा, क्योंकि अन्यथा हम, उदाहरणार्थ, यह कहने को विवश होंगे कि पीत वर्ण की चेतना में चेतना ही पीतवर्ण है, जबकि ऐसा कहना निस्संदेह तर्कतः ग़लत होगा। किन्तु जो बात मूर ने नहीं कही और जिसे हम मूर की युक्ति के आधार से कह सकते हैं, यह है कि एक ही पीत-वर्ण एकाधिक ज्ञातृ-चेतनाओं का विषय हो सकता है। अर्थात् ज्ञातृ-चेतनाओं के मध्य पृथकता की तार्किक संभावना शुद्ध संज्ञानों के संदर्भ में भी हो सकती है।

किन्तु तब भी यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि ज्ञातृ-चेतना से व्यक्ति-भाव, अर्थात् वैयक्तिक एकत्व के स्वरूप को किस तरह समझा जा सकता है। इस संबंध में वास्तविक कठिनाई इसलिए आती है क्योंकि व्यक्ति-भाव में आधारभूत 'आत्म' का प्रत्यय स्पष्ट नहीं है। इसके स्पष्टीकरण के मार्ग में जो सशक्त बाधाएं हैं उनका समुचित विवेचन ह्यूम द्वारा किया गया है। किन्तु ह्यूम की विवेचना में कोई विलक्षणता नहीं है, क्योंकि उसने उसी को अनवगम्य बताया है जिसका वस्तुतः कोई प्रत्यय ही नहीं है। बिना 'आत्म' प्रत्यय के आत्म-तत्त्व का अवगमन संभव नहीं यह कहने में ह्यूम ने कोई ग़लती नहीं की, यदि हम यह मान लें कि अवगमन सदैव प्रत्ययाधारित होता है और ऐसा मानने का युक्तियुक्त आधार भी है। वस्तु संबंधी हमारे अवगमन में यह बात बिल्कुल स्पष्ट है और कोई कारण नहीं कि ठीक यही बात आत्म-भाव पर भी लागू नहीं मानी जाये। अतः ह्यूम की ग़लती यह नहीं है कि उसने 'आत्म' प्रत्यय के अभाव में आत्म भाव को अनवगम्य माना—द्रष्टव्य है कि ह्यूम का अनुगमन करते हुए कांट ने भी इसे स्वीकार किया। ह्यूम की, और बाद में कांट की भी, वास्तविक भूल 'प्रत्यय' और 'संप्रत्ययन' के बीच स्पष्ट भेद न कर पाने की है, जैसा कि हुस्सर्ल ने बड़े विस्तार से बताया। उसके अनुसार, चूंकि आत्म सदैव अतिक्रामी भाव वाला है, उसका प्रत्यय उपलब्ध नहीं होता, यद्यपि संप्रत्ययन में उसकी अभिव्यक्ति सतत रूपेण बनी रहती है। अधिक उचित यह कहना होगा कि संप्रत्ययन-क्रिया सदैव उसी की अभिव्यक्ति के रूप में ही सम्पन्न होती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

यहाँ पर 'प्रत्यय' और 'संप्रत्ययन' के भेद को स्पष्टतः समझना होगा। प्रत्यय अमूर्तीकरण और सामान्यीकरण के संयुक्त प्रयासों का फल है। अनुभव-प्रदत्त विषय के किसी एक विशिष्ट पक्ष, गुण या विशेषता को ही बौद्धिक ध्यान में रखना अमूर्तीकरण है, जबकि उस पक्ष, गुण या विशेषता को बिना संबंधित विषय की धारणा के एक शुद्ध स्थायी प्रतीक के रूप में विचारित मानना सामान्यीकरण है। स्पष्ट है कि भाषा के निर्माण में ये अमूर्तीकरण और सामान्यीकरण बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इसीलिए दार्शनिक भाषा-विश्लेषण के मूर्धन्य पक्षधर मूलतः इन्हीं दो प्रक्रियाओं पर ध्यान देने की बात कहते हैं। उन्हें लगता है कि इनसे अन्यत्र भटक जाने की स्थिति में वे तत्त्व-मीमांसा के महा जंजाल में फँस जायेंगे। किन्तु उनके लिए परीक्षा की घड़ी तब आती है जब वे इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए बाध्य होते हैं कि उपयुक्त ढंग से उपलब्ध प्रतीकरूपेण प्रत्यय अपनी अर्थाभिव्यक्ति किस तरह कर पाते हैं। विट्गन्स्टाइन के अनुसार इनकी अर्थाभिव्यक्ति का आधार इनके प्रयोग हैं। किन्तु प्रतीक-प्रयोग तो मानव-जीवन का अंग है, न कि मात्र मानव-बुद्धि का। अतः विट्गन्स्टाइन यह मान लेने को विवश होता है कि इन भाषायी प्रतीकों के अर्थ को हमें 'बुद्धि' से अधिक विस्तृत और जटिल 'जीवन' की गहराइयों में ढूँढना होगा। किन्तु इन गहराइयों में पूरी डुबकी लगाने से वह डरता है—क्या पता वहाँ तत्त्व-मीमांसा का भूत छिप कर बैठा हो! वस्तुतः विट्गन्स्टाइन उसी परंपरा का दार्शनिक है जिसमें अनुभव की उथली सतह में भी घुस-पैठ करने वाले दार्शनिकों (लॉक, बर्कले, ह्यूम आदि) के बारे में बाद के तार्किक-अनुभववादियों ने समझा कि वे अपने विश्लेषण में मनोवैज्ञानिक विधि का उपयोग कर शुद्ध दार्शनिक चिंतन से भटकाव की स्थिति में आ गये। दूसरी ओर, इस समूची परंपरा को चुनौती देने के अंदाज़ में हुस्सर्ल ने कहा कि किन्हीं भी प्रतीकों—चाहे वे भाषायी प्रतीक हों या शुद्ध किन्तु निष्प्राण गाणितिक-तार्किक प्रतीक हों, या फिर सजीव कलात्मक प्रतीक हों—का अर्थ समझने के लिए आवश्यक है कि हम जीवनानुभव की गहराइयों में उतरें, अवश्य हड़बड़ा कर नहीं, वरन् एक निश्चित प्राविधिक ढंग से। इस नीचे उतरने के क्रम में हमें प्रत्ययों के अर्थ का विधान करने वाली संप्रत्ययन-क्रिया के दर्शन होते हैं। वस्तुतः संप्रत्ययन अर्थ-प्रदायक प्रक्रिया है—भाषायी प्रतीकों का अर्थ तथा भाषेतर प्रतीकों का भी अर्थ।

संप्रत्ययन अनुभव या चेतना के विषय को अनुभवकर्त्ता या चेतन व्यक्ति के लिए इस तरह उपस्थापित करने की प्रक्रिया है कि एक ओर तो वह मानव-इच्छा या कामना के अनुकूल या प्रतिकूल होकर सबोध्य हो तथा दूसरी ओर वह चेतना के बाहर सत्तात्मक वैशिष्ट्य से रूपायित हो। जहाँ तक वह चेतना के बाहर उससे स्वतंत्र सत्तात्मक वैशिष्ट्य के रूप वाला है, उस विषय में आगंतुकता या आकस्मिकता का गुण है और अपने इस रूप में वह प्रकृति का ही अंश है। इसकी कार्य-कारणात्मक व्याख्या संभव है जो वैज्ञानिक प्रविधि के लिए सुरक्षित है। द्रष्टव्य है कि वैज्ञानिक प्रविधि से सम्पन्न होने वाली यह व्याख्या भी अपने विषय के संबंध में संप्रत्ययन-क्रिया को पूर्वमान्य करती है, यद्यपि वह स्वतः संप्रत्ययन-क्रिया की कार्य-कारणात्मक व्याख्या प्रस्तुत नहीं कर पाती। वस्तुतः ऐसा कर पाना संभव ही नहीं है। इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को समझना चाहिए। कार्य-कारणात्मक व्याख्या केवल

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

आगंतुकता के लक्षण वाली घटनाओं के लिए ही संभव है, क्योंकि केवल ऐसी घटनाओं को ही एक-दूसरे से व्यष्टि रूप में, अर्थात् सत्ता की संरचनात्मक इकाइयों के रूप में, स्वतंत्र माना जा सकता है। कारणता मूलतः इन स्वतंत्र व्यष्टि-रूप इकाइयों के बीच एक विशेष संबंध का नाम है जिसके दो अनिवार्य पक्ष हैं—एक कालिक-क्रम का तथा दूसरा दैशिक संगठन का। मोटे तौर पर कालिक क्रम का अर्थ है कि कार्य-रूप व्यष्टि कारण-रूप व्यष्टि का सदैव अनुवर्ती होता है। इसी तरह, दैशिक संगठन का अर्थ है कि कार्य-रूप व्यष्टि और कारण-रूप व्यष्टि या तो एक ही दैशिक स्थिति के अंग होते हैं (जैसे तिल में तेल), अथवा यदि वे भिन्न-भिन्न दैशिक स्थिति वाले हों तो इन दैशिक स्थितियों को एक ही दैशिक क्षितिज के विस्तार में अवस्थित माना जाता है। प्रकट है कि केवल कालिक-क्रम और दैशिक संगठन कारणता की पूरी व्याख्या के लिए पर्याप्त नहीं हैं। किन्तु कम से कम इतना तो स्पष्ट ही है कि घटनाओं के बीच कार्य-कारण संबंध केवल तभी संभव है जब स्वतंत्र व्यष्टियों की प्रस्तुति स्वीकार की जाये और उनकी प्रस्तुति के अनिवार्य पूर्वाधार के रूप में कालिक-क्रम और दैशिक-संगठन को स्वीकार किया जाये। अब, चूँकि इन सत्तात्मक व्यष्टियों को कालिक-क्रम और दैशिक-संगठन में संप्रत्ययन-क्रिया ही संरचित करती है। इसलिए स्वतः संप्रत्ययन-क्रिया को ही व्यष्टि रूप में उपस्थापित नहीं किया जा सकता और इसीलिए संप्रत्ययन-क्रिया की कारणात्मक व्याख्या संभव नहीं। इसके अतिरिक्त, कारणात्मक व्याख्या के अन्तर्गत कार्य-कारण संबंध में जिस प्रकार की अनिवार्यता स्वीकार की जाती है वह भी संप्रत्ययन-क्रिया से ही उद्भूत है। वस्तुतः जैसा कि हुस्सर्ल ने कहा, किसी भी प्रकार की अनिवार्यता, गाणितिक-तार्किक सहित, में संप्रत्ययन-क्रिया ही आद्याधार रूप में विद्यमान है।

अनिवार्य होने का अर्थ है वह जिसका निवारण संभव न हो, अर्थात् जो, अवगमन के संदर्भ में असंदिग्ध रूप से निश्चित हो। संदेह चेतना की एक स्थिति है। अतः इसकी मूल स्वरूपता को संबधित चेतना में ही ढूँढ़ना चाहिए, न कि संबंधित वस्तु-रूपों या विषयों में। ह्यूम द्वारा सारे वस्तु-जगत् को ही संदिग्ध बना डालने का कार्य इसीलिए अ-दार्शनिक था। जबकि आत्म को संदेह की परिधि में डालने में अवश्य वह एक दार्शनिक की भूमिका निभा रहा था, किन्तु यह वह पर्याप्त दार्शनिक कुशलता पूर्वक नहीं कर रहा था। कारणात्मक युक्ति का विस्तार उसने उस असंभव क्षेत्र में करना चाहा जहाँ सदैव केवल एक व्यष्टि (मानव-व्यक्ति) स्थित होता है और इसलिए जहाँ कार्य-व्यष्टि और कारण-व्यष्टि के बीच भेद ही नहीं किया जा सकता। अवश्य मानव-व्यष्टि के संदर्भ में अनेक विषय, अनुभव आदि प्रस्तुत होते हैं, किन्तु वह स्वयं उनके बीच एक विषय या अनुभव के रूप में स्थित नहीं होता। उसकी अपनी स्थिति की तुलना पूर्वकथित दैशिक क्षितिज से की जा सकती है जो संबधित विषयों और अनुभवों में अवियोज्यरूपेण पूर्वतः आक्षिप्त है। सप्रत्ययन-क्रिया के विश्लेषण का एक उद्देश्य चेतना के इस क्षितिज का ही अवलोकन है जिसके कि उसके संदर्भ से व्यष्टि रूपों को समझा-परखा जा सके।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

संप्रत्ययन-क्रिया के संदर्भ में यह महत्त्वपूर्ण है कि उसका उत्स मानव-चेतना में है और वहीं उसका पर्यवसान भी है। संप्रत्ययन मानव-चेतना की अपनी आवश्यकता है, कुछ वैसी ही, जैसी कि मनुष्य की जैव-आवश्यकताएँ हुआ करती हैं। जैव आवश्यकताएँ जीवन-धारण के लिए आवश्यक होती हैं, जबकि चेतना की आवश्यकताएं चेतना को बनाए रखने के लिए आवश्यक हैं। चेतना की आवश्यकताओं में एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है अर्थान्वेषण की आवश्यकता। उसकी अन्य आवश्यकताओं में रसान्वेषण, धर्मान्वेषण आदि का उल्लेख किया जा सकता है। ये सभी मूल्यपरक अन्वेषण हैं और इनका उप-लक्ष्य सत्य है, जबकि इनका लक्ष्य है आत्म-स्वरूप की सिद्धि। इसके विपरीत जैव-आवश्यकताओं के संदर्भ में उप-लक्ष्य सुख है, जबकि लक्ष्य है जीवन-सुरक्षा।

संप्रत्ययन-क्रिया की स्पष्ट समझ के लिए यह देखना चाहिए कि उसके संदर्भ में विषयार्थ के दो पक्ष होते हैं—भोग्यार्थ और द्रष्टार्थ। भोग्यार्थ में विषय का आत्म-बाह्य निक्षेप वस्तु-रूप बन कर होता है। यह निक्षेप अर्थान्वेषण और विजिज्ञासा का न होकर जगत्लिप्तता का होता है। अर्थात् यहाँ संबंधित चेतना में आत्मोन्मुखता नहीं पायी जाती। यदि हमें चेतना की जगत्-लिप्तता के स्वरूप का अध्ययन करना हो तो अवश्य हमें संप्रत्ययन-क्रिया के अंतर्गत विषयार्थ के इस भोग्यार्थ वाले पक्ष पर अपना ध्यान केन्द्रिय करना होगा। किन्तु इस प्रकार के अध्ययन का भी आधार, अन्य किसी भी प्रकार के चिंतन-विषयक अध्ययन की तरह, सप्रत्ययन-क्रिया के अन्तर्गत निरपेक्षतया सम्पन्न होने वाला अर्थान्वेषण तथा विजिज्ञासा ही होगा। अर्थात् भोग्यार्थ को समझने के लिए भोगेच्छा को समझना होगा और भोगेच्छा को समझने के लिए इच्छा के आधार आत्म-स्वरूप तक जाना होगा और आत्म-स्वरूप के अवगमन के प्रयास में हमें समूची अर्थान्वेषण और विजिज्ञासा की प्रक्रिया पर विचार करना होगा। किन्तु भोग्यार्थ को समझने की यह शैली अवगमनात्मक या दार्शनिक है। भोग्यार्थ के बोध मात्र के लिए यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि भोग की उपलब्धि में ही उसका अर्थ सहजतः अभिव्यक्त रहता है और उसके सदर्भ में जो उपलब्धि चेतना को होती है उसमें विषय-ग्राह्यता का भाव होता है, विषय-जिज्ञासा का भाव नहीं। 'विजिज्ञासा' का अर्थ ही है—विषय की उपलब्धि के विपरीत भाव वाली चेतना, अर्थात् जिज्ञासा। यही सप्रत्ययन-क्रिया में विषय का दृष्टार्थ पक्ष है जो आत्म-स्वरूप के स्व-बोध के लिए आवश्यक है। किन्तु प्रश्न यह उठ सकता है कि विषय के दृष्टार्थ का प्रसंग संप्रत्ययन-क्रिया के अन्तर्गत आता ही क्यों है। प्रकट है कि यह मात्र विषय के भोग्यार्थ से नहीं आ सकता, यद्यपि अवश्य भोग्यार्थ से 'विरति' की स्थिति में दृष्टार्थ का प्रसंग उठ सकता है—ऐसा पारंपरिक भारतीय दार्शनिकों तथा कतिपय आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिकों (यथा, अस्तित्व-वादियों) का मानना है। किन्तु तब द्रष्टव्य है कि 'भोग्यार्थ-से-विरति' भी संपूर्ण संप्रत्ययन-क्रिया, जो आद्यतः विषय की प्रस्तुतिकारक क्रिया है, में आत्म-भाव को पूर्व-प्रक्षिप्त मान कर ही संभव हो पाती है। तात्पर्य यह कि, जिस तरह विषय के भोग्यार्थ में एक अव्यवहित प्रस्तुति का भाव है उसी तरह अव्यवहित प्रस्तुति का भाव विषय के दृष्टार्थ में भी है, क्योंकि इन दोनों ही स्थितियों में आत्म-भाव क्रमशः जगत्लिप्तता और आत्मोन्मुखता की आद्य विधाओं में विद्यमान होता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वस्तुतः संप्रत्ययन-क्रिया में विषय का दृष्टार्थ पक्ष ठीक उस जगह से स्पष्ट होकर उभरता है जहाँ 'यह ऐसा है' जैसी बाह्य सत्ता विषयक अभिव्यक्ति का स्थान 'मैं यह हूँ', अर्थात् '"यह ऐसा है" का द्रष्टा मैं हूँ' जैसी आत्माभिव्यक्ति ले लेती है। इसमें विषय-वस्तु की ठोस सत्ता के वदले उसके संदर्भ में विषयार्थ को अनिवार्यतः आत्म-सापेक्ष बनाया जा रहा है। (द्रष्टव्य है कि विषय के भोग्यार्थ भाव में चूँकि भोग का प्रकट माध्यम शरीर व शरीरस्थ इंद्रियाँ होती हैं, वहाँ विषय का अर्थ नहीं वरन् ठोस वस्तु-सत्ता ही प्रधान होती है। विषयार्थ तो आत्म-सापेक्ष होता है, जिस तरह वस्तु-सत्ता शरीर-सापेक्ष होती है। यही कारण है कि स्वप्न की वस्तुओं को हम सत्तावान् नहीं मानते, क्योंकि वे शरीर-सापेक्ष नहीं मानी जा सकतीं।) किन्तु इस तरह विषयार्थ के आत्म-सापेक्ष होने के लिए आवश्यक है कि आत्म, चाहे उसका स्वरूप जो हो, एक ओर तो बाह्य वस्तु-सत्ता से और दूसरी ओर स्वयं अपनी शरीरी सत्ता से पृथक्कृत होने का बोध करे। किन्तु यह होना महज नहीं है, क्योंकि 'मैं यह हूँ' स्वरूप वाली आत्माभिव्यक्ति आत्म को किसी 'यह' के रूप में स्थापित करने के कारण उसकी सारूप्यता 'यह ऐसा है' के 'यह', अर्थात् वस्तु-सत्ता, से दिखाती है। यही कारण है कि आत्म-स्वरूप विषयक प्रश्न को वहुधा सत्ता-विषयक प्रश्न मानने का भ्रम दार्शनिकों को भी हो जाता है—यथा ह्यूम को। फिर, चूँकि ऐसा सत्ता-बोध आत्म के विषय में संभव नहीं, यह समझ लिया जाता है कि विषयान्तर्गत वस्तु सत्ता के अतिरिक्त आत्म जैसी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं पायी जाती।

'मैं यह हूँ' अभिव्यक्ति में आत्मबोध किसी दर्शन-क्रिया या चेतना-क्रिया से अभिन्न होकर प्रकट होता है। किन्तु चूँकि दर्शन-क्रियाएं निरन्तर परिवर्त्तनशील होती हैं क्या प्रत्येक दर्शन-क्रिया में प्रकट होने वाला आत्म-भाव एक ही रहता है? यदि हम ह्यूम द्वारा किये गए आत्म-भाव के विश्लेषण को स्वीकार कर लें तो हमें स्वीकार करना होगा कि जिसे हम सामान्यतः एक ही व्यक्ति मानते हैं उसमें वस्तुतः असंख्य आत्म-भाव घटित होते हैं, और उनके बीच एकत्व केवल इतना है कि वे सभी दर्शन-क्रियाओं के रूप में स्मृति और कल्पना द्वारा एक विन्दु पर समेट दिये जाते हैं। ह्यूम द्वारा किया गया यह विश्लेषण कई कारणों से असंतोषजनक कहा जा सकता है। किन्तु शायद इसका एक सर्वाधिक प्रमुख कारण यह है कि ह्यूम इस तथ्य की अनदेखी करता है कि 'स्मृति' और 'कल्पना' भी प्रकारांतर से दर्शन-क्रियाएं ही हैं, क्योंकि ये भी मूलतः विषय की उपस्थापना करने वाली चेतना की क्रियाएँ ही हैं और इसलिए वैयक्तिक या आत्ममूलक एकत्व या अभिन्नता के लिए केवल उतनी ही सहायक या वाधक हो सकती हैं जितनी कोई भी अन्य विषय-प्रस्तुतिकारक चेतना-क्रिया। स्मृति और कल्पना इसलिए विशिष्ट नहीं हैं कि उनसे कोई विशेष (आत्म) सत्तामूलक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं वरन् उनकी विशिष्टता यह है कि उनसे, विषय प्रस्तुति के बावजूद, कोई सत्तामूलक निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते, वस्तु-सत्तामूलक निष्कर्ष तो बिल्कुल ही नहीं, क्योंकि उन चेतना-क्रियाओं के अन्तर्गत सीधे शरीर-संपर्क की संभावना को नहीं स्वीकारा जाता। अतः न तो वस्तु-सत्ता और न ही आत्म-स्वरूप के एकत्व की सही व्याख्या स्मृति और कल्पना के आधार पर संभव है।

* यह बहुत ही गम्भीर बात है। बौद्धों अनात्म और अनित्यत्व को
इस परिप्रेक्ष्य में समझना चाहिए और इसके पर अद्वैत वेदान्त

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection.

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

'मैं यह (मननशील, कल्पनाशील, स्मृतिवान् या निरीक्षणकर्त्ता आदि) हूँ' जैसी अभिव्यक्ति वस्तुतः 'मैं' अथवा आत्म-भाव की अभिन्नता किसी एक विशिष्ट दर्शन-क्रिया से दिखाने के लिए ही है, जो इसलिए आवश्यक है क्योंकि इसी अभिन्नता से कोई भी दर्शन-क्रिया अपनी प्रस्तुति में असंदिग्ध या प्रमाणीकृत होकर सामने आती है। यदि मैं अपनी किसी दर्शन-क्रिया, यथा कोई स्मरण विशेष, के प्रति संदेहशील होता हूँ तो उससे अपनी तटस्थता रख कर इसकी जाँच-परख करता हूँ। किसी भी प्रस्तुत विषय से इस तरह तटस्थता का अर्थ है उसके प्रति द्रष्टा-भाव रखना। वस्तुतः किसी दर्शन-क्रिया के संबंध में इस तरह द्रष्टा की तटस्थता संबंधित विषयार्थ की समस्यात्मकता को जन्म देती है। द्रष्टव्य है कि इस स्थिति में भी संदेह उपस्थापित विषय के सत्ता या असत्ता के भाव पर न होकर उसके अर्थ-भाव पर होता है। (स्वतः सत्ता या असत्ता के संबंध में समस्यात्मकता का रूप रहस्य का है जो न तो दार्शनिक विश्लेषण द्वारा समाधान योग्य है और न ही आकलन योग्य) किन्तु इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए कि यद्यपि विषयार्थ के संबंध में समस्या उठ सकती है, उसी संदर्भ में दर्शन-क्रिया के प्रति तटस्थ हुए आत्म-भाव की समस्या नहीं उठती, क्योंकि विषयार्थ की समस्यात्मकता में जो विकल्प-बोध होता है उसे आत्म के बारे में न समझा जाकर विषयार्थ के बारे में ही समझा जाता है। अतः विषयार्थ के बारे में समस्यात्मकता का रूप स्पष्ट करता है कि आत्म-भाव तत्त्वतः कभी दर्शन-क्रिया से पृथक् नहीं होता, क्योंकि अगर ऐसा होता तो विषयार्थ संबंधी समस्याएं चेतना में प्रस्तुत ही न हो पातीं: दर्शन-क्रिया से पृथक्ता की अवस्था में आत्म-भाव संबंधित विषयार्थ से भी पृथक् हो जाता।

अतएव 'मैं यह हूँ' जैसी अभिव्यक्ति शुद्ध आत्म-भाव को प्रकट करने वाली नहीं है, यद्यपि संप्रत्ययन-क्रिया का यह दूसरा चरण उसके पहले चरण ('यह ऐसा है' में अभिव्यक्त) की अपेक्षा आत्म-भाव को अधिक स्पष्टतापूर्वक प्रकट करता है। ऐसा इसलिए हो पाता है क्योंकि इसमें, अर्थात् दूसरे चरण में, न केवल सीधे आत्म-भाव को अभिव्यक्ति देने वाले प्रतीक 'मैं' का प्रयोग होता है वरन् साथ ही विषयार्थ की समस्या के संदर्भ में आत्म-भाव की वस्तु-भाव से पृथक्ता का भी स्पष्ट संकेत मिलता है। संप्रत्ययन-क्रिया का तीसरा चरण, जिसका उल्लेख हम अभी करेंगे, इस सकेत को अधिक स्पष्ट आत्म-बोध, अर्थात् आत्म-तादात्म्य बोध, में बदलता है। विषयार्थ की समस्यात्मकता को सुलझाने के लिए चेतना अपने-आप को जिस दर्शन-क्रिया का रूप देती है वह सामान्य चेतना-क्रियाओं—यथा इंद्रिय–प्रत्यक्ष, स्मृति, कल्पना सुख–दुःखादि वेदनाओं—से बिल्कुल अलग तरह की होती है, इस तरह कि यह दर्शन-क्रिया सामान्य दर्शन-क्रियाओं की तरह अपने विषय की प्रस्तुति में आत्म-बाह्यता का भाव व्यक्त नहीं करती। तर्कतः यह बात समझ में आने वाली भी है, क्योंकि यदि चेतना की सभी क्रियाएं आत्म-बाह्यता के भाव से युक्त विषय ही उपस्थापित करें तो विषयार्थ-संबंधी समस्या के समाधान के लिए हमें वस्तु-सत्ता के क्षेत्र में जाना होगा, न कि 'अर्थ' के क्षेत्र में, और इस तरह दार्शनिक चिंतन और विश्लेषण की सारी प्रासंगिकता ही समाप्त हो जायेगी।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

'ये दर्शन-क्रियाएं मेरी हैं' यह अभिव्यक्ति आत्म-भाव को प्रकट करने वाली संप्रत्ययन-क्रिया का तीसरा चरण है। इसमें विभिन्न दर्शन-क्रियाओं से अलग आत्म-भाव एक व्यक्ति-रूप 'अहम्' बनता है। विभिन्न देश-काल खंडों में घटित होने वाली विविध दर्शन-क्रियाओं को पुनः किसी विशेष देश-काल-विशिष्ट स्थिति से बांधकर उनके बीच एकत्व दिखाने का प्रयास एक व्यर्थ प्रयास है, क्योंकि यदि यह संभव होता तो किसी भी विशेष दर्शन-क्रिया द्वारा यह हो सकता और तब इस स्थिति में वैयक्तिक एकत्व जैसी कोई समस्या ही पैदा नहीं होती। जबकि इसके विपरीत वस्तुस्थिति यह है कि इस तरह की एक वास्तविक समस्या दार्शनिकों के समक्ष रही है। ठीक इसी कारण से यह भी संभव नहीं कि शरीर या शारीरिक क्रियाकों के आधार से इस समस्या का समाधान पाया जा सके। चूंकि शरीर तथा शारीरिक क्रियाएँ विशेष देश-काल में ही अवस्थित होते हैं, उन्हें अपने व्यक्ति-रूप में संहित करने का प्रयास वैयक्तिक एकत्व की समस्या को पैदा करने में ही सहायक होता है, न कि उसके समाधान की कोई राह दिखा पाता है।

जब मैं यह कहता हूं कि 'ये दर्शन-क्रियाएँ मेरी हैं', या यह कि 'यह मेरा शरीर है' या 'ये मेरी शारीरिक क्रियाएं हैं', तब वस्तुतः यह होता है कि अपनी दर्शन-क्रियाओं, या अपने शरीर या शारीरिक क्रियाओं, को अपना संदर्भ देकर विशिष्ट करता हूँ—न कि उनका संदर्भ देकर अपने आत्म-भाव को विशिष्ट करता हूँ मैं अपनी दर्शन-क्रियाओं (उसी तरह अपने शरीर एवं शारीरिक क्रियाओं) को अपने उन अभिप्रायों या प्रयोजनों से विशिष्ट करता हूं जिनके संदर्भ में वे मेरे लिए सार्थक क्रियाएं होती हैं। निरभिप्राय या निष्प्रयोजन दर्शन-क्रियाएं (अथवा शारीरिक क्रियाएं) यदि सम्पन्न हों भी तो वे मेरी चेतना से होकर गुज़र जाती हैं—उन पर मेरे अहम् की कोई सार्थक पकड़ नहीं बन पाती, वे 'मेरी' नहीं हो पातीं। दर्शन-क्रियाएं (या शारीरिक क्रियाएं) जो मेरी हैं, मेरे अभिप्रायों-प्रयोजनों में संरचित हैं। और इसी से दर्शन-क्रिया से संबंधित विषय को उसका 'अर्थ' मिलता है। जैसे, जब मैं इन शब्दों को लिख रहा हूं तो उनके द्वारा मैं अपना एक अभिप्राय व्यक्त कर रहा हूं जिससे इन शब्दों को उनका निश्चित प्रासंगिक अर्थ मिल रहा है। इन्हें लिपिबद्ध करते हुए आस-पास के कुछ और शब्द भी मेरे कानों में पड़ रहे हैं, किन्तु चूंकि वे अभी मुझमें स्फुटित अभिप्राय के वाहक नहीं हैं उनका बोध मेरी चेतना में से होकर गुजर जा रहा है। अर्थात् उनका मेरे लिए कोई अर्थ नहीं है क्योंकि वे मेरी चेतना द्वारा उपस्थापित विषय नहीं बन पा रहे हैं। दूसरी ओर, यदि मैं इन बाहर से आने वाले शब्दों पर अपना ध्यान केन्द्रित करूं तो इससे आशय यह होगा कि मैं उनके संदर्भ में एक अभिप्राय-विशिष्ट चेतना-क्रिया कर रहा हूं और इस तरह उन शब्दों का अर्थ मेरे अभिप्राय के संदर्भ में स्पष्ट हो सकता है। (द्रष्टव्य है कि विषयार्थ की समस्यात्मकता मूलतः चेतना-क्रिया में सन्निविष्ट अभिप्राय की सरचना की अस्पष्टता के कारण होती है और इसके समाधान के लिए हम हुस्सर्ल की फिनामिनालाजिकल विधि अपना सकते हैं, या फिर विट्गन्स्टाइन की भाषा-विश्लेषण की विधि—इन दो विधियों में अंतर केवल दार्शनिक विश्लेषण के विकास को लेकर है: हुस्सर्ल की विधि में हम चेतना-क्रियाओं से आरंभ कर प्रतीकों (शब्दों) के अर्थ तक आते हैं. जबकि विट्गन्स्टाइन की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

विधि में प्रतीकों (के प्रयोगों) से आरंभ कर जीवन-रूपों (अर्थात् अभिप्राय-विशिष्ट क्रियाओं) तक जाना होता है ।

यह समझने की बात है कि अभिप्राय स्वयं में कोई दर्शन-क्रिया नहीं है । वह दर्शन-क्रियाओं में विषयार्थ को संरचित करने वाला तत्त्व है । विना अभिप्राय के घटित दर्शन-क्रिया में विषय तो होता है किन्तु विषयार्थ नहीं होता । विना अभिप्राय के घटित दर्शन-क्रिया एक विशुद्ध जैव-क्रिया हो सकती है, जैसे किन्हीं जीवधारियों में पाये जाने वाले संवेदन-तंतुओं द्वारा गृहीत संवेदन, जो कभी भी एक मानसिक क्रिया नहीं बन पाते । मानसिक-क्रिया सदैव साभिप्राय क्रिया होती है । कोई भी चेतना-क्रिया विषय की ग्राहक होती है, किन्तु उसके लिए आवश्यक नहीं कि उसके संदर्भ में कोई आत्म-भाव या वैयक्तिक एकत्व का भाव प्रकट हो ही । किन्तु जव दर्शन-क्रिया में विषय का ग्रहण उसमें अर्थ के प्रत्यारोपण से सम्पन्न होता है तब उस अर्थ के प्रत्यारोपण के लिए चेतना में किसी विशिष्ट अभिप्राय, आकांक्षा या प्रयोजन को मानना आवश्यक हो जाता है । पुनः, साभिप्राय विषयार्थ का ग्रहण सदैव उस 'अहम्' को चेतना के केंद्र में स्थापित करता है जो विषय के संदर्भ में साभिप्राय अर्थ-क्रिया करता है । किन्तु तब यह भी स्पष्ट है कि बिना अपने 'इतिहास' के अनुबोध के 'अहम्' कोई साभिप्राय अर्थ-क्रिया कर ही नहीं सकता है यहाँ 'अनुबोध' से तात्पर्य है कि अहम् के लिए उसका अपना 'इतिहास' दर्शन-क्रिया के विषय के समानांतर विषय के रूप में प्रस्तुत न होकर उस विषय की व्याख्या के सामान्य क्षितिज के रूप में प्रकट होता है । 'अहम् के इतिहास' से तात्पर्य है कि जिन अभिप्रायों के केंद्र में अहम् होता है वे अभिप्राय अपने बोध और क्रियान्वयन में दर्शन-क्रिया में प्रस्तुत विषय को पूर्वापेक्षित मानते हैं । अर्थात् अभिप्राय के बोध में और अर्थ-क्रिया में भी प्रस्तुत विषय की पहले से ही सहज अपेक्षा होती है । प्रस्तुत विषय का सहज अर्थाभिपूरक तत्त्व होने से अभिप्राय-विशिष्ट दर्शन-क्रिया, और उसके केंद्र में स्थित अहम् अपने संदर्भ वाले विषय की अपेक्षा रखते हैं—इस अपेक्षा के कारण ही विषय में अर्थ की संरचना को उसकी वस्तुनिष्ठता मिल पाती है ।

इस तरह साभिप्राय दर्शन-क्रिया के कद्र में प्रकट अहम् में चेतना की एक पूरी शृंखला क्रमबद्धरूपेण गुँथी रहती है, जो अभिप्राय में प्रकट विषयापेक्षा, विषयापेक्षा से प्रकट विषय-प्रस्तुति, और विषय-प्रस्तुति से प्रकट विषयार्थ की शृंखला के रूप में होती है । अर्थात् अहम् का अपना एक इतिहास होता है जिसमें प्रस्तुत (वर्तमान) को पूर्वापर (अपेक्षा और अर्थ) के संदर्भ में विशिष्ट या स्पष्ट किया जाता है । अहम् अपने इस इतिहास के कारण ही 'व्यक्ति' रूप वाला बनता है । दर्शन-क्रियाओं के सतत प्रवाह में उसका अपना इतिहास जैसे एक नाव है जिसमें सवार होकर वह इस प्रवाह में बहता हुआ भी अपने वैयक्तिक एकत्व को स्थिर रखता है । कांट ने 'संप्रत्यक्षण के एकत्व' के रूप में वैयक्तिक एकत्व की जो कल्पना की वह चेतना-प्रवाह के साथ-साथ बह रहे नाव में सवार व्यक्ति की न होकर उस प्रवाह से अलग उसके तट में बैठे एक ऐसे असहाय व्यक्ति की है जो सारी दर्शन-क्रियाओं में प्रक्षिप्त तो अवश्य है किन्तु स्वतः अपने स्वरूप के अवगमन में सर्वथा अक्षम है । इसके

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

विपरीत, चेतना-प्रवाह के साथ-साथ चलने वाला व्यक्ति न केवल अपने-आप को अपनी सारी दर्शन-क्रियाओं में आहित पाता है, वरन् साथ ही अपने एकत्व-बोध और इतिहास-बोध में भी समर्थ होता है।

दर्शन विभाग,
रायपुर विश्वविद्यालय, रायपुर.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

2

भाषा*

यशदेव शल्य

भाषा की एक साधारण और सर्वस्वीकृत परिभाषा "सार्थक ध्वनि" हो सकती है। किन्तु यह परिभाषा भी प्रथमतः जितनी स्पष्ट प्रतीत होती है उतनी यह है नहीं। क्योंकि अर्थ क्या है और ध्वनि तथा अर्थ का सम्बन्ध क्या है आदि प्रश्न अत्यन्त जटिल हैं और इन्हें लेकर उतना ही विवाद है जितना विवाद किसी भी विषय को लेकर हो सकता है। किन्तु भाषा की इतनी मात्र परिभाषा बहुत अपर्याप्त भी है। भाषा के दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व अभिव्यक्ति और संप्रेषण हैं। अब, अभिव्यक्ति क्या है ? यह चेतना में प्रसुप्त या अस्फुट रूप से विद्यमान तत्त्वों का जागरण या स्फुटन, अथवा अरूप-निराकार चैतन्य का रूपों-आकारों में उन्मेष कही जा सकती है। किन्तु तब अभिव्यक्ति केवल भाषा ही के रूप में होती नहीं कही जा सकती, यह अनेक रूपों में होती है: संगीत, नृत्य, चित्र आदि कलाएं और विभिन्न शिल्प भी अभिव्यक्तियां ही हैं। वास्तव में सभी क्रियाओं को अभिव्यक्ति कहा जा सकता है, एक प्रकार से नेत्र-वक्त्र-विकारादि को भी अभिव्यक्ति कहा जा सकता है, यद्यपि ये क्रियाएं नहीं होती, ये मनोदैहिक अवस्थाएं होती हैं। किन्तु अन्य व्यक्ति के लिए ये मुखमुद्राएं मनःस्थिति की अभिव्यंजक होती हैं। अब, जबकि शब्द, चित्र और वक्त्रादि के विकार विचार, भाव, उद्वेग आदि की अभिव्यक्तियां हैं। स्वयं ये विचारादि भी चेतना के गहनतर स्तरों की अभिव्यक्तियां हैं। वास्तव में स्वयं व्यक्ति भी अभिव्यक्ति ही है—चेतना के अरूप—निराकार स्तरों का रूप—आकार-धारण। अब, सब अभिव्यक्ति सायास या अनायास रूप से संप्रेषक भी हो जाती है। कहा जा सकता है कि कराह या आंसू यद्यपि संप्रेषक होते हैं किन्तु कराहना या रोना सप्रयोजन नहीं होने से ये संप्रेषणात्मक व्यापार नहीं होते जो कि भाषा होती है। किन्तु यह भी

* यह लेख मेरी आगामी पुस्तक "समाज : चिद्गत संरचनाओं का परिशीलन" का चतुर्थ अध्याय है। यह पुस्तक भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान परिषद्, नई दिल्ली की सीनियर फैलोशिप के तत्वावधान में लिखी गई है। इसके लिए मैं इस परिषद् के अधिकारियों के प्रति अनुगृहीत हूं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

मनुष्य के सम्बन्ध में सही नहीं है: कुछ अवसरों पर आंसू छलक आने पर हम कुछ नहीं बोल-कर दूसरे के वक्ष पर अपना सिर रख कर ही अपने भाव को व्यक्त करते हैं और इसे अधिक प्रगल्भ अभिव्यक्ति मानते हैं। वास्तव में बोलने में भी हाव-भाव, और शब्दों तथा वाक्यों पर बल का न्यूनाधिक्य अभिव्यक्ति के महत्त्वपूर्ण अंग होते हैं। ये हाव-भाव और शब्द तथा वाक्योच्चार में बल-वितरण केवल उद्गारात्मक नहीं होकर सप्रयोजन और अर्थ-संकेतात्मक भी होते हैं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण अभिनय है जिसमें अभिनेता इनका अर्थवह आकारों के रूप में उपयोग करता है। इस प्रकार ये हाव-भाव वास्तव मे भाषा के ही अंग हो जाते हैं, इन्हें उसका अनिवार्य पूरक भी कह सकते हैं। इस प्रकार "अभिव्यक्ति" भाषा से बहुत व्यापकतर प्रत्यय है। संप्रेषण को इसका अवच्छेदक बनाने पर यह कुछ सीमित होता है, किन्तु तब भी इसका क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत रहता है और भाषा इसका बहुत महत्त्वपूर्ण माध्यम होने पर भी केवल अनेक में से एक माध्यम ही होती है। यहां यह द्रष्टव्य है कि अभिव्यक्ति अनिवार्यतः संप्रेषणात्मक ही नहीं होती, और यह बात भाषा के लिए भी सही है, जब तक 'संप्रेषण' का विस्तार "आत्म-संप्रेषण" तक नहीं बढ़ाया जाय। अब, भाषा बात करने, अन्य से कुछ कहने, अन्य पर अपने को प्रकट करने अथवा अन्य से संवाद में अवस्थित होने की माध्यम है, किन्तु वह विचार और भावन की भी माध्यम होती है जिनका प्रयोजन केवल अपने को अपने पर प्रकट करना, अपनी अरूप-अनाम-निराकार चेतना को रूप-नाम-आकार देकर उसे उसका अर्थ और सत्य देना होता है।

अब, अभिव्यक्ति और संप्रेषण का होना चेतना के स्वरूप के सम्बन्ध में दो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बातें हैं। अभिव्यक्ति का साधारण अर्थ अस्फुट, अनुद्भिन्न अथवा अप्रकट रूप में पहले से विद्यमान अंगों, गुणों या घटकों का स्फुट, दृश्य, उद्भिन्न और प्रकट हो जाना है। सांख्य का सत्यकार्यवाद इस धारणा का बहुत उत्कृष्ट प्रतिपादन है। किन्तु अभिव्यक्ति को असत्कार्यात्मक, नितान्त नवोत्पत्त्यात्मक, सृजनात्मक रूप में भी समझा जा सकता है। किन्तु सत्कार्यवाद में भी कुंडल को स्वर्णगत और चित्र को वर्णगत अव्यक्त की अभिव्यक्ति कहना विचार-हीनता की पराकाष्ठा है। तब क्या इन्हें चिद्गत अव्यक्त की अभिव्यक्ति, चिद्गत अस्फुट का प्रस्फुटन कहना चाहिए? कुछ अवस्थाओं में ऐसा भी कहा जा सकता है, किन्तु अधिकांश में ऐसा नहीं कहा जा सकता। उदाहरणतः मुख-मुद्रा मनोभाव की दो अर्थों में अभिव्यंजक कही जा सकती है: एक इस अर्थ में कि जो भाव पहले केवल मन में प्रकट था वह अब देह में भी प्रकट हो गया, दूसरे इस अर्थ में कि जो भाव पहले दूसरों के लिए अप्रकट था वह उनके लिए भी प्रकट हो गया। किन्तु अभिव्यक्ति का एक दूसरा आयाम भी है: भावना की संगीत में अभिव्यक्ति, विचार की शब्दों में अभिव्यक्ति, कल्पना की वर्ण या प्रस्तर मे अभिव्यक्ति। ये दूसरे प्रकार की अभिव्यक्तियां चित्तगत का भौतिक में प्रकट होना मात्र नहीं हैं। इस अभि-व्यक्ति-व्यापार को और गहरे में भी देखा जा सकता है: स्वयं भावना, विचार और कल्पना भी वास्तव में अभिव्यक्तियां ही हैं: ये चैतन्य की चैत्त अभिव्यक्तियां हैं। काश्मीर शैव इसे ही विमर्श और भर्तृहरि परावाक् या शब्द-ब्रह्म का पश्यन्ती आदि स्तरों में अवतरण कहते हैं। चैतन्य या ब्रह्म का विमर्श में यह प्रवर्तन उसकी एक-साथ आत्म-सर्जन और आत्माभिव्यंजन की आकुलता का फल

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कहा जा सकता है। यहां यह द्रष्टव्य है कि सर्जन का अर्थ परिणाम नहीं होकर अपूर्व आविर्भाव है। उदाहरण के लिए एक ही भाव की संगीत, नृत्य और काव्य में अभिव्यक्ति होती है, इनमें प्रत्येक विधा में भी उस भाव की अनेकविध अभिव्यक्ति होती है, और इनका उस भाव से जबकि एक ओर इतना अन्तरंग सम्बन्ध होता है कि ये उसकी अनुरूपता से प्रमाणित होती हैं दूसरी ओर इतना वाह्य भी कि इन्हें उसके लिए आगन्तुक कहा जा सकता है: वह भाव अभिव्यक्ति के लिए किसी भी विधा को और उस विधा में किसी भी प्रकार को अपना सकता है। कोई भी कृतिकार यह जानता है कि उसकी कृति जैसी है वैसी होना स्वयं उसके द्वारा भी यथेच्छया निर्धार्य नहीं होता, वह उसी भाव को पुनः उसी रूप में शब्दवद्ध, स्वरवद्ध या रेखा-रंगवद्ध नहीं कर सकता, और यह उसके वश के पूर्णतः वाहर की बात होती है कि उस समय जैसा उसने रचा वह वैसा ही क्यों रचा गया, किसी अन्य प्रकार का क्यों नहीं रचा गया।

अव, किसी भाव की: कहें प्रेम-भाव की: अभिव्यक्ति की नृत्य और काव्य जितनी परस्पर भिन्न विधाएं इस बात की स्पष्ट द्योतक हैं कि प्रेम का 'रूप' नृत्यात्मक या काव्यात्मक नहीं होता यद्यपि ये दोनों रूप उसी को निरूपित करते हैं। इन अभिव्यक्तियों में भाव भिन्न-भिन्न प्रकार से आकारित होता है: प्रेम नृत्याकारित अथवा काव्याकारित और चैतन्य प्रेमाकारितः और ये सब अभिव्यक्तियां और सम्बन्ध यहाँ (इस निवन्ध में) विचाराकार और शब्दाकार में अभिव्यक्त हो रहे हैं। किन्तु 'प्रेम' इस शब्द का इस भाव से क्या सम्बन्ध है? यह शब्द इस भाव की संज्ञा, इसका नाम है जिस प्रकार 'घट' शब्द घट-वस्तु की संज्ञा या नाम है। अव, नाम को वस्तु के निकटतम माना जाता है, यहाँ तक कि इसे स्थानीय तक मान लिया जाता है। महाकवि तुलसीदास ने तो कहा है "राम सों बढ़ रामकर नामा", किन्तु 'प्रेम' शब्द का इस भाव से वैसा सम्बन्ध नहीं जान पड़ता जैसा 'घट' शब्द का घट-वस्तु से : प्रेम-भाव से, अथवा कहें प्रेम-वस्तु से: यह निकटता नृत्य या काव्य की अधिक जान पड़ती है। किन्तु यह सम्बन्ध निकट होने पर भी नाम और वस्तु के जैसा नहीं होता। किन्तु इसके सम्बन्ध में अभी आगे। यहां महत्त्वपूर्ण अभी यह देखना है कि 'प्रेम' शब्द इस भाव की संज्ञा है और परिणामतः इसका इससे एक सम्बन्ध है। इस सबंध को व्यंजकता का सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता। अभी यहाँ हम इसे स्थानीयता का सम्बन्ध कह सकते हैं। किन्तु यह ध्वनि संज्ञा अकेले अपने-आपसे नहीं होती, यह उपयुक्त वाक्य के अन्तर्गत ही संज्ञा होती है, और अधिकांशतः वाक्य अपनी उपयुक्तता वाक्य-संस्थान में ग्रहण करता है। 'घट' संज्ञा के लिए जबकि एक वाक्य भी बहुत सीमा तक पर्याप्त होता है, प्रेम के लिए यह नहीं होता: 'यह घट है' इस वाक्य से घट वस्तु की उपस्थिति में काम चल जाता है किन्तु 'यह प्रेम है' इस वाक्य से इस भाव की उपस्थिति में भी काम नहीं चलता। किन्तु खैर इस सबके सम्बन्ध में अभी आगे। यहाँ केवल यह देखना ही प्रसंगोपात्त है कि संज्ञा वस्तु-स्थानीय होती है और यह वाक्य-संस्थान के भीतर ही संज्ञा होती है। इस वाक्य-संस्थान की उपमा स्थूल रूप से किसी नगर का स्थान निर्धारित करने वाले मानचित्र से दी जा सकती है। अब, जयपुर कहां है, यह बताने के लिए हमें कम से कम कितने बड़े भू-भाग का मानचित्र बनाना होता है? यह इस पर निर्भर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

करता है कि हम जिसको जयपुर की स्थिति बताने जा रहे हैं उसे भूगोल का कितना ज्ञान है, अथवा वह कहां का रहने वाला है। राजस्थान के निवासी को अधिक से अधिक राजस्थान के मानचित्र की आवश्यकता होगी, फ्रांस-निवासी को भूगोल के बहुत बड़े भाग के मानचित्र की, मंगल ग्रह के निवासी को ग्रह-मंडल के मानचित्र की। और यह संपूर्ण मानचित्र जयपुर का केवल स्थन-निर्देश ही कर पायेगा। जयपुर की अपनी संरचना जानने के लिए उसके गली-कूचों का मानचित्र अपेक्षित होगा। अब, ये सब मानचित्र जयपुर का स्थान और उसके आगे उसकी अपनी स्थानिक संरचना ही निर्धारित कर पायेंगे। किन्तु इन सब निर्धारणों का इस नगर के जीवन से कोई लेना-देना नहीं होगा। इसके जीवन को यदि जानना हो तो उसकी दूसरी विधि है और वह है इस का निवासी होना। यहां पुनः बहुत सी सापेक्षताएं हैं: आप बाहर से आकर बसे हैं या कि यहाँ के मूल निवासी हैं? आप अन्तर्मुखी हैं या कि बहिर्मुखी? आदि-आदि। अब, यहाँ मानचित्र से जीवन-चरित्र पर संक्रमण में जो विषयान्तर हुआ है वह नितान्त मौलिक है और जहाँ तक भाषा और उसके वाच्य का सम्बन्ध है वह न प्रथम प्रकार का है और न दूसरे प्रकार का। किन्तु मानचित्र और उसके द्वारा निर्धार्य के बीच सम्बन्ध की शब्द और उसके वाच्य के बीच सम्बन्ध से इस दृष्टि से अनुरूपता बहुत गहरी है कि जिस प्रकार नगर-द्योतक बिन्दु स्वयं से नगर का स्थान नहीं बता सकता उसी प्रकार कोई शब्द भी अपने वाच्य का स्वयं से वाचक नहीं होता। भाषा के सम्बन्ध में हमारे देश के दो प्रमुख सिद्धान्त स्फोटवाद और अपोहवाद दोनों भिन्न-भिन्न रूप से इस तथ्य का निर्वचन करते हैं। वाह्य वस्तु-जगत् को निकटतम रूप से निरूपित करने वाले वाक्य "यह घट है" प्रकार के हैं, किन्तु द्रष्टव्य है कि ऐसे वाक्य सामान्यतः बच्चे को भाषा सिखाने के अवसरों पर ही प्रयुक्त होते हैं, बहुत बार उस विदेशी के साथ व्यवहार में भी जो हमारी भाषा नहीं जानता और जिसकी भाषा हम नहीं जानते। अन्यथा वस्तु-वाचक शब्द वस्तु की अनुपस्थिति में ही प्रयुक्त किये जाते हैं। अब, किसी वस्तु की अनुपस्थिति में तद्वाचक पद-प्रयोग वस्तु-विशेष का वाचक नहीं होकर तद्विषयक सामान्य का वाचक होता है। किन्तु इस परिस्थिति पर थोड़ा गहराई से विचार करें तो हम पायेंगे कि यह वाचक-वाच्य सम्बन्ध भी अत्यन्त जटिल और परोक्ष होता है। उदाहरण के लिए 'घट साथ के कमरे में है' वाक्य में सामन्य का वचन और विशेष का निर्देश है। अब, यह वाच्यभूत सामान्य यहां अनिवार्यतः विशेषमूलक ही होता है: यह विशेषों में ही घटित और उनके रूप में ही कल्पित हो सकता है: यह तथ्य वाक्य के घटक किसी शब्द से निर्दिष्ट नहीं होता वल्कि संपूर्ण वाक्य से व्यंजित होता है: कमरे में घट-सामान्य नहीं होकर घट-विशेष ही हो सकता है। उदाहरणतः यह नहीं कहा जा सकता कि 'साथ के कमरे में घटत्व है।' यहां कहा जा सकता है कि 'घट' शब्द सामान्य के लिए प्रयुक्त नहीं होकर विशेष के लिए ही प्रयुक्त होता है, सामान्य के लिए 'घटत्व' का प्रयोग होता है, इसलिए उपर्युक्त वाक्य में घट-विशेष ही वाच्य होता है" तो यह सही है किन्तु केवल इस जटिल अर्थ में कि "वहां घटत्वावच्छिन्न कोई विशेष है।" अथवा "वहां कुछ है जो घटत्वावच्छिन्न है।"

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इस प्रकार वस्तुवाचक सरलतम वाक्य भी वस्तु-वचन कितने परोक्षरूप से करते हैं यह देखा जा सकता है। किन्तु वास्तव में यह भी एक ग्राम्य–जनोचित भ्रांति है जिसके बहुत से दार्शनिक भी शिकार हैं कि 'घट' और इस प्रकार कोई भी प्रत्यक्षगम्य विषय स्वतंत्र वस्तु होता है। ये सब विषय वास्तव में अपने स्वरूप में ही शब्दात्मक होते हैं। इस प्रकार "साथ के कमरे में घट है' वाक्य के वाच्य का ही रूप "घटत्वावच्छिन्न कुछ" ऐसा नहीं होता बल्कि घट-वस्तु का निर्माण भी इस प्रत्ययपूर्वक ही होता है।[1] इस प्रकार भर्तृहरि के इस प्रतिपादन को कि हमारा कोई ज्ञान शब्द के बिना नहीं होता,[2] आगे बढ़ाते हुए कहा जा सकता है कि मानव-ज्ञानगम्य और मानव-रचित वस्तुमात्र शब्द-विद्ध होती है। किन्तु यहाँ यह कहना आवश्यक है कि यह प्रतिपादन केवल विषयात्मक, अथवा कहें अध्यवसायात्मक ज्ञान के सम्बन्ध में ही सत्य हैं। जैसे चित्र-निरूपित, नृत्य-निरूपित आदि प्रकार के विषय शब्द-विद्ध नहीं होते। कहा जा सकता है कि ये भी शब्द-निरूप्य होते हैं: चित्रकार जिस आकार और भाव को चित्रांकित करता है वह पहले शब्द-कल्पित होकर ही चित्रकार को गम्य होता है और उस शब्द-गम्य को वह चित्रांकित करता है। किन्तु यह कहना युक्त नहीं है। चित्रांकित भाव चित्र के आकार में ही साक्षात्कार्य होता है, शब्दाकार में उसका ग्रहण एक सर्वथा भिन्न प्रकार का होता है। यदि ऐसा नहीं हो तो एक कुशल चित्रकार को उसी स्तर का शब्द-शिल्पी, अथवा कहें शब्दकार भी होना होगा, जबकि होता यह है कि चित्रकार जितना ही कुशल होता है उतना ही वह शब्द-निरूपण में अकुशल, बल्कि फूहड़ होता है। इसका कारण यह है कि शब्द-विषय और चित्र-विषय दो सर्वथा भिन्न प्रकारक प्रातिभगम्य होते हैं। इस प्रकार शब्द वस्तु का वचन वस्तु को शब्दात्मक रूप में रचित करके ही करता है। यही बात चित्र और मूर्ति आदि के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है, इस अन्तर के साथ कि शब्द-वाच्य वस्तु हमारे व्यवहार-लोकगत अथवा उसके तारतम्य में होती है जबकि चित्र, मूर्ति आदि की आध्यात्मिक, चक्षुगम्य के अन्तर में निहित अन्तश्चक्षुगम्य होती है। इनका यही गुण इन्हें प्रतीक बनाता है। प्रतीक उसे कह सकते हैं जो अनिवार्यतः अपने से परे की वस्तु का निर्देश करता है किन्तु जिसका निर्देश्य उसकी संरचना में रूपायित होकर ही ग्राह्‌य होता है।

किन्तु भाषा का कार्य केवल वर्णन या निरूपण ही नहीं होता, आदेश, अनुरोध, भावाभिव्यक्ति, कथा, उपहास, व्यंग्य, विचार और भावना आदि अनेक कार्यों का यह संपादन करती है। निरूपण और भावाभिव्यक्ति में शब्द का वाच्य से सम्बन्ध बाह्य प्रतीत होता है। वस्तु और भाव की अनभिलाप्यता का प्रतिपादन सर्वविदित ही है। काव्य में भाषा का अभिधात्मक से लक्षणात्मक और व्यंजनात्मक हो जाना भी इसी बात का द्योतक है, किन्तु अनभिलाप्यता वस्तु के शब्द की इन शक्तियों से भी अगम्य होने का स्वीकार है। यह स्वीकार इस तथ्य का है कि भाषा कुछ वस्तुओं का निरूपण कर सकती है और कुछ का नहीं, और

---

1. इस पर हमने अपनी पुस्तक "सत्ताविषयक अन्वीक्षा" में बहुत विस्तार से अनेक स्थलों पर विचार किया है।
2. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते,
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते। (वाक्यपदीय, 1,115.)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

परिणामत: जिनका निरूपण यह कर पाती है उनसे इस निरूपण का सम्बन्ध बाह्य ही होता है। अपोहवाद में इस प्रतिपादन का कुशलतम रूप दृष्टिगोचर होता है जिसके अनुसार शब्द निरूप्य वस्तु का अभिधान उस वस्तु से भिन्न वस्तुमात्र के व्यावर्तन के माध्यम से करता है : जैसे 'गो' शब्द का अर्थ है "अगोव्यावृत्त।" किन्तु यह सिद्धान्त वस्तुस्वरूप-विषयक एक विशेष मान्यता पर आधारित है। इस मान्यता के अनुसार वस्तु का स्वरूप नितान्त विशिष्ट :स्वलक्षण: होता है जबकि भाषा केवल सामान्य का ही निरूपण कर सकती है और सामान्य चित्त की कल्पना है। किन्तु वे यह नहीं देखते कि ये "स्वलक्षण" और "निर्विकल्पक" भी शब्द-रचित जटिल और सूक्ष्म अवधारणाएं ही हैं। किन्तु तब भी, विचार के अनुकूल या उसके लिए पर्याप्त शब्द नहीं मिलना, शब्दातीत तत्त्व, अनुभूति और ज्ञान, ये ऐसे तथ्य हैं जिनका हम पदे-पदे सामना करते हैं। वैसे चीनी और गुड़ की तथा केले और आम की भिन्न-भिन्न मिठासों के लिए ही हमारी भाषा में पृथक् शब्द नहीं हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में यह भी द्रष्टव्य है कि यह पार्थक्य-बोध और शब्दाभाव भी भाषा को पूर्वकल्पित करते हैं : भाषा-क्षम चेतना ही अभिव्यक्ति या निरूपण की असम्यवता और तत्त्व की भाषातीतता को देख पाती है। इस पर कहा जा सकता है कि निरूपण की असम्यक्ता का अर्थ निरूप्य की भाषातिरिक्तता या भाषा से भिन्नता नहीं है, यह केवल वैखरी वाक् की मध्यमा वाक् के लिए और इन दोनों की पश्यन्ती वाक् के लिए अपर्याप्तता है और इस प्रकार निरूपक और निरूप्य दोनों वाक् के ही दो पक्ष हैं।[3] वास्तव में भाषा की वचन-असामर्थ्य के बोध का मूल वैखरी के चेतना के तमसावृत स्तरों से उद्भव में हैं। वैखरी में चेतना इस तमसावरण का भेदन कर उच्चतर अर्थों के प्रकाश को लक्षित करती है जिनकी पार्यन्तिक कोटि परावाक् है। नित्य नवीन अभिधाओं और पद-संरचनाओं का आविष्कार, और उसके आगे लक्षणाओं, व्यंजनाओं, रूपकों और उत्प्रेक्षाओं की सृष्टि में उसकी इस तमसावरण से निकल कर अपने ऊर्ध्व स्तरों के साक्षात्कार की यह आकुलता ही दिखायी देती है। इस प्रकार शकर-रसना-ग्राह्य कदली-आम्रफल-आस्वाद-भेद वाग्-अग्राह्य है क्योंकि वह तमसावृत है, कबीर का "गूंगे का गुड़" इस कारण अनभिलाप्य : वाग्-अग्राह्य नहीं : है क्योंकि वह वैखरी का विषय नहीं होकर परावाक् का विषय है। वैखरी-स्तरीय चेतना के प्रकाश में ये माधुर्य-भेद 'कदली-मधुर' और 'आम्र-मधुर' इस प्रकार भी वाच्य हो सकते हैं और इनके लिए पृथक् शब्द भी हो सकते हैं जिस प्रकार यज्ञ में आहवनीय लकड़ी के लिए 'समिधा' शब्द है। इस सारी स्थिति को "पश्यन्ती" और "परावाक्" आदि रहस्यात्मक अवधारणाओं के बिना भी समझा जा

---

3. शब्द-ब्रह्मवाद के इस भारतीय सिद्धान्त की शब्द-व्यवहारवाद के पाश्चात्य भौतिकवादी सिद्धान्त से समानांतरता का वैचित्र्य यहां द्रष्टव्य है, क्योंकि व्यवहारवाद के अनुसार भी अशाब्द विचार नहीं हो सकता। किन्तु इनमें वास्तव में मौलिक भेद है : शब्द-ब्रह्मवाद भाषा को ब्रह्म-तत्व की विमर्श-क्रिया के रूप में, उसके आत्म-व्याकरण के रूप में देखता है और व्यवहारवाद दैहिक भाषा-यंत्रों को प्रकट-अप्रकट क्रिया के रूप में। व्यवहारवाद के एक नवीन और कुशलतम प्रतिपादन के लिए द्रष्टव्य क्वाईन की पुस्तकें—"वर्ड एन्ड ऑब्जेक्ट" तथा "ओंटोलोजीकल रेलेटिविटी एण्ड अदर एस्सेज्" में "इपिस्टिमोलोजी नेचुरलाइज्ड" लेख।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सकता है : शब्द की असम्यक्ता हम अधिक सम्यक् शब्द के रूप में ही देखते हैं, और जहां तक शब्दातीतता का प्रश्न है, उसे शब्द की असामर्थ्य के रूप में नहीं देख कर शब्द की उस पराकाष्ठा के रूप में देखा जा सकता है जहां उसका निर्धारणात्मक वैविध्य अनिर्धार्य की विपुलता का व्यंजक हो जाता है। कहा जा सकता है कि "गूंगे का गुड़" नाम-रूप-रहित अनुभव की अवस्था नहीं होकर नाम-रूप की अपार राशि में विराट् एकात्मता-बोध की स्थिति है। यदि हम दार्शनिकों द्वारा प्रतिपाद्य 'अनभिलाप्य' और 'अनिर्वचनीय' को थोड़ा गहराई से देखें तो पायेंगे कि वह निर्वचनों से अतीत होने पर भी उनके सहित अतीत होता है, उनसे रहित नहीं। वाग्वैचित्र्य को चेतना का निर्गमन और अनिर्वच को निर्गमन में आविर्भूत रूपों सहित उसका उपसंहरण कह सकते हैं।

भाषा और अभाष्य के बीच सम्बन्ध को सम्यक् रूप से समझने के लिए वर्णन के स्वरूप पर थोड़ा विचार स्थाने होगा। ऊपर हमने देखा कि अनभिलाप्यता की प्रतिपत्ति में शब्द और वस्तु के, नाम और नामाभिधेय के बीच सम्बन्ध बाह्यात्मक रूप से कल्पित है और इस प्रकार निरूपण और निरूप्य अथवा नाम और वस्तु के बीच भी सम्बन्ध बाह्यात्मक रूप से ही देखा जाता है। किन्तु यदि निरूपण और निरूप्य के, अथवा नाम और नामाभिधेय के बीच सम्बन्ध बाह्यात्मक नहीं मानें तो अनिर्वचनीय अथवा अनभिलाप्य भी वैसा भाषा-बाह्य नहीं रह जायगा जैसा इसके प्रतिपादक समझते हैं।

पीछे हमने देखा था कि 'घट' पद "घटत्वावच्छिन्न कुछ" का वाचक है और यह जितना घट-पदवाच्य के लिए सत्य है उतना ही कुंभकार—रचित घट के लिए भी सत्य है। इस प्रकार न केवल घट-पदवाच्य ही पदारूढ़ होता है बल्कि दृष्टि-विषय घट और कुंभकार-निर्मित घट भी पदारूढ़ होता है। यह मनुष्य-रचित सब वस्तुओं और वस्तु-लोक के सम्बन्ध में कहा जा सकता है। अब, जो रचित वस्तु-लोक के सम्बन्ध में सत्य है, जिसका अस्तित्व इसके हमारे द्वारा रचित होने से सिद्ध है, वह अरचित भौतिक जगत् के सम्बन्ध में तो और भी सत्य हो जाता है जिसके अस्तित्व के लिए हमारे पास केवल संवेद का परोक्ष प्रमाण ही उपलब्ध होता है। अवश्य संवेद्य गुण अपने वैशिष्ट्य में शब्द का अतिक्रमण करते हैं : 'मीठा' शब्द मिठास नहीं देताः किन्तु ये भी वैसे अशाब्द हैं जैसा हम समझते हैं, वैसी बात नहीं है। उदाहरणतः स्मृत मिठास भी मीठी नहीं होती और न इष्ट मिठास ही मीठी होती है। यह स्मृत तथा कल्पित और इनसे सम्बद्ध अतीत और भविष्यत् शब्द-मूलक ही होते हैं। अब जहां तक संवेद्य मिठास का प्रश्न है, यह भी स्वलक्षण नहीं होकर अतीत अनुभव से अनुप्रविष्ट होती है, यह हम जानते ही हैं : यह "कैसी है और कैसी नहीं-अतद्व्यावर्तक प्रकार की" होती है। निश्शब्द चेतना का संवेद-प्रदत्त भी अतीत से अननुप्रविष्ट नहीं होता, किन्तु उसके सवेद-प्रदत्त और भविष्यत् वर्तमान में ही संगृहीत रहते हैं। जैसाकि हमने पिछले अध्याय में देखा, ऐसा इसलिए है क्योंकि काल का तीन आयामों में स्वतंत्र निर्धारण शब्दाश्रित होता है। अत्र, वर्तमान के अतीत और भविष्यत् से, विशेषतः अतीत से, अनुप्रविष्ट होने के कारण और शाब्द चेतना का अतीत शब्दाश्रित होने के कारण उसे वर्तमान में प्रस्तुत सवेद्य गुण भी अशाब्द नहीं होते।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अब, यह द्रष्टव्य है कि वस्तु-विषयक वाक्य भी तीन प्रकार के होते हैं—कथनात्मक, निरूपणात्मक और लक्षणात्मक। 'यह घट है' अथवा 'साथ के कमरे में घट है' ये वाक्य कथनात्मक हैं, किसी प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत घट का रूप-वर्णन घट–निरूपण और 'घट किसे कहते हैं' इसका उत्तर घट–लक्षण। इन तीनों ही भाषा-प्रयोगों में हम वास्तव का आकलन करते हैं। इसमें कथन जबकि प्रत्यक्षतः वस्तु–विषयक होता है, निरूपण में प्रस्तुत वस्तु के रूप का शब्दांकन होता है। इस शब्दांकन को घट के रूप–विषयक कथन भी कह सकते हैं। लक्षण में प्रस्तुत या अप्रस्तुत कोई घट लक्षित नहीं होता बल्कि घट के तत्त्व का अरूपतः कथन होता है। उदाहरणतः घट लक्षण प्रायः इस प्रकार किया जा सकता है : "मृत्तिकोपादान जलधारण-उपादेयभूत वर्तुलाकृतिवान् वस्तु-विशेष।" अब इस लक्षण–वाक्य में घट-विशेष के रूप का कोई भी उल्लेख नहीं होता, परिणामतः किसी वर्ण और आयतन का उल्लेख अनपेक्षित होता है और केवल उन गुण-धर्मों का उल्लेख होता है जो संयुक्त रूप से सब घटों में, और केवल घटों में ही, सामान्य हों। इस तीसरे भाषा-प्रयोग में जैसे मानो भाषा ही शेष रह जाती है और वस्तु पूर्णतः अप्रस्तुत हो जाती है। किन्तु वास्तव में क्या ऐसा नहीं है कि हम प्रथम से द्वितीय में और द्वितीय से तृतीय में वस्तु के तत्त्व में क्रमशः अधिकाधिक गहरे उतरते जाते हैं ? अभी ऊपर हमने त्रि-आयामात्मक काल का आविर्भाव शब्दमूलक कहा। बर्गसां ने इसे काल के सजीव अनुभव से वंचित होना कहा है। अब यदि इस प्रतिपादन को सत्य भी मानलें तो भी क्या यह शब्द-व्यवधान काल के सत्य में उससे कहीं अधिक गहरा प्रवेश नहीं है जितना पशु के अनुभवगत है ? इस पर बर्गसां की आपत्ति है कि जो पशु को सहज अनुभूत है वह हमें उपलब्ध ही नहीं है। उसकी यह आपत्ति सही है। किन्तु इसका कारण यह है कि पशु और वस्तु का तादात्म्य रहता है जो उसे वस्तु के तमसावरण में बन्दी रखता है, जबकि वस्तु के अवगमन के लिए : वस्तु के सत्य को पाने के लिए : वस्तु से नहीं चित् से तादात्म्य साधना होता है जो चेतना द्वारा अपने में से जगद्भाव के निष्कासन द्वारा सिद्ध होता है। जगद्भाव आत्मा का अन्नमय और प्राणमय कोशों से तादात्म्य है जो बर्गसानीय सहज प्रवृत्ति (इंस्टिंक्ट) के रूप में लक्षित होता है, अध्यवसायात्मक बुद्धि की जागृति आत्मा का मनोमय कोश से तादात्म्य है जिसके उत्कर्ष का प्रथम चरण अध्यवसायात्मक भाषा के आविर्भाव के साथ प्रकट होता है और जिसके उत्कर्ष के अगले चरण कला और विज्ञान के क्रम से दर्शन में अपनी चरमता प्राप्त करते हैं तथा विज्ञानमय कोश में आरोहण का मार्ग प्रशस्त करते हैं। इस प्रशस्तीकरण में भाषा माध्यम बनती है, वह स्वयं दृष्टि नहीं बनती, जिसका प्रमाण गणितात्मक तर्क और भौतिकवादी दर्शन है। प्रथम में भाषा की सूक्ष्मता का अत्यन्त उच्च स्तर उपलब्ध होने पर भी वह कुछ नहीं दर्शाती और दूसरे में दृष्टि-विपर्यास होता है। इस प्रकार

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

चेतना[4] की मनोमय कोश में प्रतिष्ठा, अथवा कहें उसमें आरोहण, के साथ भाषा का आविर्भाव होता है और मनोमय कोश के विभिन्न स्तर भाषा को आधार बना कर उत्पन्न होते हैं। चेतना की मनोमय कोश में प्रतिष्ठा के साथ ही संस्कृति का आविर्भाव होता है। संस्कृति के विभिन्न रूप इसकी ही विविध रूपात्मक अभिव्यक्तियां हैं और इसका स्तर-क्रम विज्ञानमय कोश की ओर उद्दिष्ट आरोहण का स्तर-क्रम है। यहां यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि इस आरोहण में भाषा और मनोमय चेतना के उच्चतर स्तरों का निषेध या क्षय अपेक्षित नहीं होता, केवल इन स्तरों से ज्ञान में स्वातंत्र्य अपेक्षित होता है जो इन स्तरों से आत्मा को मुक्त कर इन्हें उच्चतर और व्यापकतर स्तरों में उपसंहृत करता है। भाषा में यह उसके विषय-निरूपणात्मक पक्ष में विशेष से सामान्य के और सीमित-तर सामान्य से व्यापकतर सामान्य के स्तरों पर आरोहण में और अमूर्त विषय-रचनाओं में, तथा विषयि-निरूपणात्मक (भाव-निरूपणात्मक) पक्ष में उसके द्वारा अपना अभिधात्मक व्यापार छोड़कर लाक्षणिक और व्यंजनात्मक अर्थ-लोकों की सृष्टि में देखा जा सकता है। भाषा के समान ही नृत्य, संगीत, चित्र और मूर्ति आदि कलाए भी चिन्तनात्मक और संप्रेषणात्मक प्रतीक-सृष्टियां ही हैं और परिणामतः ये भी उन्मोचक होती हैं, किन्तु ये अतिक्रमण के प्रथम स्तर में ही संकीर्ण रहती हैं और वह स्तर भी अपनी लोच, सूक्ष्मता और व्यापकता में बहुत सीमित होता है। उदाहरणतः कथन, निरूपण, आदेश, उपदेश, मूल्यांकन, उपहास, वक्रोक्ति, व्यंग्य, कथा, उदाहरण, अलंकार, श्लेष आदि भाषा के कितने ही प्रयोग हैं जो चेतना की विचार, भाव, बोध, प्रातिभ, कल्पना, आक्षेपण, प्राक्कल्पना उद्ग्रहण और व्याप्ति आदि अनेकविध अभिव्यक्तियों को संभव करते हैं। ये सब अभिव्यक्ति-रूप चित्र, संगीत आदि कलाओं को सुलभ नहीं हैं। अवश्य चित्र, मूर्ति आदि कलाएं जिस प्रकार अर्थों को दृष्टिगम्य रूप में प्रस्तुत कर देती हैं और इस प्रकार दृष्टिगम्य को विपुल अर्थ-संभार के प्रतीक रूप में देखने की सामर्थ्य देती हैं वह भाषा नहीं कर सकती, किन्तु दृष्टिगम्यता उसकी प्रतीक-रचना के आदि-अंत की सीमा होने से ये अभिव्यक्तियां आत्मचेतन चेतना के अत्यन्त व्यापक, विविध और जटिल अर्थ-संभार के वहन में नितान्त असमर्थ रहती हैं। यहां एक छोटा सा उदाहरण दृष्टिमूलक इन कलाओं की सीमाओं को देखने के लिए उपयुक्त होगा : यदि एक नाटककार नाटक में यह दिखाना चाहता है कि एक व्यक्ति मदिरा के प्रभाव में एक नर्तकी में अपनी प्रेमिका की आकृति देखता है तो इसके लिए उसके पास कोई उपाय नहीं है सिवाय इसके कि वह स्वयं उस प्रेमिका को ही वहां प्रस्तुत करे और दर्शकों से यह अपेक्षा करे कि वे प्रसंग के द्वारा यह समझें कि अभिनेय व्यक्ति मदिरा के प्रभाव में अन्य लड़की में अपनी प्रेमिका का अध्यास कर रहा है। अब, यह स्पष्ट है कि यहां अध्यास को समझने का माध्यमभूत प्रसंग

---

4. हमारे प्रयोग में 'चित्', 'चेतना' और 'आत्मा' पद समानार्थक नहीं हैं। चित् शुद्ध, मानसोत्तर, चित्तातिक्रान्त अवस्था का वाचक है, 'चेतना' चैत्त, आनुभविक, मनोमय और निम्नतर कोशीय अवस्था का और 'आत्मा' अस्मिता-बोध के विषय का, किन्तु मुख्यतः इस बोध में लक्षित अतिक्रामी पुरुष का। 'चेतना' पद का प्रयोग इन तीनों स्तरों के विशेष्य के रूप में भी किया गया है। इस पद के ये दो भिन्न प्रयोग प्रसंग में स्पष्ट अर्थ-द्योतक हैं। 'आत्मा' शब्द-वाच्य इन दो पदों के स्वरूप के सम्बन्ध में हमारे विवेचन के लिए द्रष्टव्य उन्मीलन के जनवरी, 1989 अंक में हमारा लेख "तत्वमीमांसा और उसका औचित्य।"

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भी भाषा के आधार पर ही ग्राह्य होता है, अभिनय अपने-आपसे इस प्रसंग और अध्यास को अभिव्यक्त नहीं कर सकता। इसके विपरीत भाषा भाव-स्थितियों की जटिलता को किस सीमा तक अभिव्यक्त कर सकती है इसका कोई अन्त नहीं है। वास्तव में एक सीमा से आगे भाव–स्थितियों की जटिलता आविर्भूत ही भाषा से होती है। उदाहरणतः ग़ालिब का एक शेर लें

छा रहा है दरोदीवार पे सब्ज़ा ग़ालिब,
हम बयाबां में हैं और घर में बहार आयी है।

यह अत्यन्त गहन निराशा की मनःस्थिति में उसी के अनुरूप बाहरी स्थिति : टूटते हुए मकान पर जमी काई और ईंटों के जोड़ों में फूटते पौध : को देख कर उसकी भाव-श्लेषात्मक अभिव्यक्ति है; इसमें अर्थ-श्लेष के द्वारा जिस प्रकार एक अत्यन्त साधारण दृश्य को अपनी मनःस्थिति और विपन्न परिस्थिति का व्यंजक बनाया गया है वह ऊपर दिये गये अभिनय के उदाहरण से तुलनीय है। अब, यह द्रष्टव्य है कि इस खिन्न मनः स्थिति की यह अत्यन्त जटिल और विदग्ध अभिव्यक्ति मनःस्थिति के साथ बाह्यतः सम्बद्ध नहीं है बल्कि यह स्वयं मनःस्थिति के उस अर्थ-वैपुल्य की द्योतक है जो भाषा के बिना चेतना में आविर्भूत और उसे अवगम्य ही नहीं हो सकता था। इसे यदि इस प्रकार कहें कि चेतना की अभिव्यंजक विभिन्न प्रतीक-विधाएं स्वयं चेतना के विकास की ही अवस्थाएं हैं जो एक-साथ उसका आत्मसर्जन और वस्तूकरण होता है, तो यह अधिक उपयुक्त होगा।

भाषा के उपर्युक्त विभिन्न गुणों और रूपों से कहीं अधिक विलक्षण इसके दो और गुण हैं, ये हैं अनुवाद और अतिभाषा: अतिभाषा, अर्थात् भाषा द्वारा स्वयं अपना विषय-करण और अतिक्रमण।

अनुवाद शब्दों और वाक्यों में समानार्थकता की पूर्वमान्यता पर आधारित है। किन्तु सूक्ष्मतः देखने पर पाया गया है कि शब्दों और वाक्यों के अर्थ संपूर्ण भाषा के वाक्य-रचना-तंत्र और अर्थ-रचना-तंत्र में अनुस्यूत होते हैं और ये तंत्र उस भाषा का प्रयोग करने वाले समाज की जीवन और जगद्-विषयक दृष्टि में। इसलिए एक भाषा से दूसरी भाषा में पूर्णतः सम्यक् अनुवाद असंभव होता है। इन भाषाओं में कुछ परस्पर निकट होती हैं और कुछ दूर, कुछ एक ही परिवार की होती हैं कुछ भिन्न परिवारों की, किन्तु परिवारों में भी परस्पर निकटता-दूरता का भेद रहता है। इन निकटताओं और दूरियों के अनुसार ही एक से दूसरी भाषा में अनुवाद भी अपेक्षाकृत कम और अधिक सम्यक् हो सकता है।

यहां दो प्रश्न हैं जो भाषा के स्वरूप को समझने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं: प्रथम यह कि प्रत्येक भाषा के व्याकरण और अर्थ तंत्र की संरचना अपनी विशिष्ट होने पर अनुवाद संभव ही कैसे हो सकता है? दूसरे, कोई व्यक्ति दो भाषाओं के बीच भेद को कैसे समझ और प्रतिपादित कर सकता है? क्या ऐसा वह इन दो भाषाओं के ऊपर तीसरी किसी अतिभाषा में करता है या कि चेतना के किसी भाषातिक्रामी स्तर पर आरोहण करके करता है?

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ये दो प्रश्न वास्तव में एक ही प्रश्न के दो रूप हैं, अथवा कहें प्रथम प्रश्न अनिवार्यतः दूसरे प्रश्न पर ले जाता है क्योंकि अनुवाद में भी हमें दो भाषाओं की अर्थ-संरचना को उनकी मध्यवर्ती अथवा उनसे ऊर्ध्व भूमि पर स्थित होकर समझना होता है। यह कठिनाई दृश्य वस्तु-सम्बद्ध वाक्यों के सम्बन्ध में उतनी नहीं उठती, यद्यपि यह संभव है कि दो भाषाओं के व्याकरण परस्पर मूलतः भिन्न हों। उदाहरणतः भारोपीय भाषा-परिवार की भाषाओं की मूल वाक्य-रचना उद्देश्य-विधेयात्मक प्रकार की होती है जिसमें उद्देश्य पद द्रव्य और गुणाधिष्ठान का और विधेय पद अधिष्ठित गुण का वाचक होता है। किन्तु यह संभव है कि इस भाषा-परिवार से बाहर की किसी भाषा की मूल वाक्य-रचना उद्देश्य-विधेयात्मक प्रकार की नहीं हो। उस अवस्था में इन दो भाषाओं के सरलतम बाह्य वस्तु-निर्देशात्मक वाक्यों में भी अनुवाद सहज नहीं होता। किन्तु तब भी ऐसे ही वाक्यों में एक से दूसरी भाषा में अनुवाद अपेक्षाकृत सरल होता है। यहाँ अनुवादक को देखना होता है कि इस दूसरी भाषा का प्रयोग करने वाले दृश्य वस्तुओं की उपस्थिति में जिन वाक्यों का प्रयोग करते हैं उनकी रचना क्या है और उसकी अपनी भाषा के उद्देश्य पदों और विधेय पदों के वाच्यों के वचन के लिए उस भाषा में क्या व्यवस्था है? उदाहरणतः उसे देखना होता है कि "यह मेज़ है" और "मेज़ लाल है" वाक्यों द्वारा निर्दिष्ट वस्तुस्थितियों के इस दूसरी भाषा में वाचक वाक्यों की रचना क्या है? इस मूलतः भिन्न भाषा के वाक्यों की रचना अथवा वस्तु-अभिधान-विधि को समझने के लिए अनुवादक को अपनी भाषा के निर्धारण-रूपों के ग्राह से मुक्त होकर वस्तु-स्थिति और भाषा के बीच एक नया सम्बन्ध स्थापित करना होता है, जिसका अर्थ है कि उसे वस्तुस्थिति को किसी भी भाषा से स्वतंत्र होकर देखना होता है। किन्तु क्या यह संभव है? वास्तव में यह संभव नहीं है, क्योंकि भाषा-प्रयोग का अर्थ है चेतना का उस स्तर पर आरोहण जिस पर भाषा संभव होती है। यह आरोहण चेतना के आत्म-विषयकरण और इस विषय के माध्यम से आत्म-व्यवस्थापन में प्रतिफलित होता है। यह विषयकरण और व्यवस्थापन चेतना के अपने ही तत्त्व में निहित बाह्यत्व पर उसकी आत्मा के अधिष्ठातृत्व का प्रस्थापन होता है जो उस स्तर पर आरोहण के और इस प्रकार भाषा के बिना संभव नहीं होता। इससे निम्नतर स्तर पर चेतना पूर्णतः आत्मबहिष्कृत और स्थिति-विहीन रहती है। अभिधान चेतना द्वारा काल के ग्राह से मुक्त होकर स्थिति प्राप्त करने और पूर्वापर का निरीक्षक और अधिष्ठाता होने का आधार बनता है। अब, यह अभिधान और इससे अभि-हित दो पृथक् वस्तुएँ नहीं होते, ये परस्पर अवियोज्य होते हैं, यद्यपि ये अविवेच्य नहीं होते। भाषा के तीन पक्ष होते हैं जो परस्पर विविक्त रूप में समझे जा सकते हैं। ये हैं शब्द, अर्थ और वस्तु। इस प्रकार "यह घट है" शब्द (व्याकरण), घटत्वावच्छिन्न अयन्त्व, और इन दो से अभिहित वस्तु यह त्रि-आयामात्मक स्थिति है जो यहां उपचरित हो रही है। किन्तु इस स्थिति के तीनों आयाम परस्पर इस प्रकार सयुक्त है कि इनमें से कोई भी पृथक् रूप से नहीं रह सकता। यहां आपत्ति हो सकती है कि यह बात शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में तो कही जा सकती है किन्तु इनके लिए वस्तु की अनिवार्यता की बात कैसे कही जा सकती है? क्योंकि ऐसे वाक्यों जैसे 'वार्द्धक्य बहुत कष्टप्रद अवस्था है' में कोई अभिहित वस्तु नहीं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

होती। यहां इस प्रसंग के अधिक विस्तार में नहीं जाते हुए हम इतना ही कहना चाहेंगे कि भौतिक वस्तु चेतना का संवेद-स्तरीय आत्म-बाह्यत्व है और भाव-पदार्थ अवधारणा-स्तरीय। इसका यह अर्थ नहीं है कि कोई भौतिक वस्तु-ज्ञान जैसी स्थिति नहीं होती। निश्चय ही जब हम कहते हैं "मेज़ साथ के कमरे में है" तब वस्तु के सम्बन्ध में ही कहते हैं, यह कथन इस प्रश्न का कि "मेज़ कहां है" उत्तर है। किन्तु यह वस्तु शब्दार्थ द्वारा चेतना के अपने में अधिष्ठित होकर अव्यवस्थित संवेद-संघात को रूपाकार दिये बिना संभव नहीं हो सकती और यह रूपाकार शब्द तथा अर्थ से अवियोज्य होता है। परिणामतः 'यह घट है' पद-वाच्य वस्तुस्थिति इस पदार्थ (पद के अर्थ) से स्वतंत्र नहीं हो सकती।

किन्तु तब भी दो भाषाओं में परस्पर ऐसे वाक्यों का अनुवाद सरलतर है। इसके लिए बहुत प्रसिद्ध उदाहरण है कि एक ही भाषा-भाषी दो व्यक्ति एक ही स्थल का वर्ण अपने चक्षु-निर्माण-भेद के कारण दो सर्वथा भिन्न वर्णों के रूप में देखते हुए इस दृष्टि-भेद को जाने बिना उसके लिए सारा जीवन एक ही शब्द का प्रयोग करते रह सकते हैं। यही बात दो भाषाओं के दृश्य वस्तु-विषयक वाक्यों के लिए कही जा सकती है। उनके वस्तु-अवधारण में भेद होने पर भी वाक्यों में समानार्थकता-सम्बन्ध स्थापित करना वैसा कठिन नहीं होता। किन्तु कठिनाई यह है कि भाषाओं में ऐसे वाक्य बहुत कम होते हैं, और जितनी ही कोई भाषा समृद्ध होती है, अथवा कहें जितना ही किसी भाषा-भाषी समुदाय का मनोमय जीवन समृद्ध होता है, उतना ही ऐसे वाक्यों का अनुपात उस भाषा में कम होता जाता है। वास्तव में ये तथाकथित वस्तु-वाचक पद भी अधिकांश में जीवन और जगत्-विषयक व्यापकतर सांस्कृतिक दृष्टि से अनुविद्ध होते हैं। उदाहरणतः 'समिधा लाओ' वाक्य देखा जा सकता है। अब, 'समिधा' शब्द यज्ञ-विषयक अत्यन्त जटिल वैदिक अवधारणात्मक संस्थान के भीतर प्रयुक्त शब्द है और इसी प्रकार समिधाओं को लाने का कर्म जटिल यज्ञानुष्ठान-विधिमूलक है। परिणामतः समिधा लाना विशेष धार्मिक विचार-व्यवस्था या जीवन-जगत्-विषयक दृष्टि के अन्तर्गत कल्पित वस्तु और क्रिया है। परिणामतः 'समिधा लाओ' इस वाक्य का अनुवाद किसी भी अन्य भाषा में संभव नहीं है। किन्तु अन्यथा 'समिधा' शब्द वैसा ही है जैसा 'लकड़ी' या 'घट'। वास्तव में यदि इन शब्दों की भी व्युत्पत्ति और प्रयोग-रूढ़ि को गहराई से लें तो इनसे घटित वाक्यों के अनुवाद में भी कठिनाई आ सकती है। विभिन्न नृतत्ववैज्ञानिकों ने विभिन्न आदिम जातियों की भाषाओं के वस्तु और गुण-वाचक शब्दों और व्याकरणों (वाक्य-रचना-रूपों) का तुलनात्मक अध्ययन कर जो तथ्य प्रस्तुत किये हैं उनमें यह स्पष्ट है कि विभिन्न भाषाओं के दृश्य वस्तु, गुण और वस्तु-गुण-सम्बन्ध आदि विषयक शब्दों, शब्द-रूपों और वाक्य-रचनाओं में इतना अन्तर है कि दो भाषाओं के ऐसे सरल वाक्यों के भी अनुवाद संभव नहीं होते। अत्र,जो बात दृश्य वस्तु-विषयक शब्दों के सम्बन्ध में सत्य है वह,अदृश्य वस्तु-विषयक : विचार, भावना आदि वस्तु-विषयक: शब्दों के सम्बन्ध में तो और भी सत्य है।

किन्तु इसके बावजूद दृश्य वस्तु-विषयक वाक्यों का दूसरी भाषा में अनुवाद उससे कहीं अधिक दूर तक संभव होता है जितना अदृश्य वस्तु-विषयक वाक्यों का। किन्तु तब भी,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अदृश्य वस्तुविषयक वाक्यों का अनुवाद भी संभव होता है : यह अनुवाद दो भाषाओं में शब्द-वाच्य अवधारणाओं और निर्देश-विधियों तथा वाक्य-रचनाओं में रूपान्तरण-नियम स्थिर करके किया जा सकता है । स्पष्टतः यह अत्यन्त दुस्साध्य कार्य है और इसकी संभावना केवल सैद्धान्तिक ही हो सकती है, व्यावहारिक नहीं। किन्तु यहां महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हमारे लिए यह सीमा देखना संभव होता है । किन्तु यह किस प्रकार संभव हो सकता है जबतक अन्वीक्षक दोनों भाषाओं से गहनतर स्तर पर उतर कर उन्हें उस स्रोत पर से नहीं देख सके जिसमें से सब भाषाएं उत्पन्न होती हैं ? यह स्रोत चेतना का भाषा से निम्नतर स्तर नहीं होकर उच्चतर ही हो सकता है, क्योंकि भाषाओं की सीमा भाषा से निम्नतर स्तर पर अवगत नहीं होकर उच्चतर स्तर पर ही गम्य हो सकती है । अन्यथा भी, चेतना के निम्नतर स्तर उच्चतर के स्रोत नहीं होकर उसके उपादान कहे जा सकते हैं । उपादान को स्रोत रूप में देखना भौतिक और जैविक जगत् को समझने के लिए तो उपयुक्त अभ्युपगम हो सकता है, चेतना के तत्त्व को समझने के लिए नहीं । उदाहरण के लिए नैतिक बोध का स्रोत इच्छाएं, वासनाएं आदि नहीं हो सकतीं, क्योंकि यह बोध इनमें निहित या अव्यक्त रूप में विद्यमान कुछ का विकसित रूप नहीं होता, बल्कि यह इनका नियामक, इन्हें अधिष्ठित कर इस स्तर के लिए अकल्पनीय सार्थकताओं के लिए इनका उपयोग करने वाला, होता है । यही बात भाषा के सम्बन्ध में भी सत्य है । दो भाषाओं में परस्पर अनुवाद के लिए अनुवादक को उस अतिभाषा के स्तर पर आरूढ़ होना होता है जिस पर दोनों की शब्द-संरचनाएं और अर्थ-कल्पनाएं या अर्थावधारण अवगमन के विषय बनते हैं । इस पर आपत्ति की जा सकती है कि यह अतिभाषा भाषा का स्रोत नहीं होती, स्रोत उसे कहते हैं जिसमें से वह वस्तु उद्गत हो, उत्क्रमित हो । किन्तु तब चेतना के लिए इस शब्द का प्रयोग अयुक्त है, क्योंकि चेतना के उच्चतर स्तर निम्नतर से उद्गत नहीं होते, निम्नतर स्तर उच्चतर स्तरों में अपने अस्तित्व का प्रकाशन और अपने स्वरूप तथा अर्थ का आविर्भाव पाते हैं। परावाक् को इसी अर्थ मे वैखरी पर्यन्त वाक्-स्तरों का स्रोत समझा जा सकता है । किन्तु किसी भी अर्थ में वैखरी को उच्चतर वाक्-स्तरों :मध्यमा, पश्यन्ती और परा: का स्रोत नहीं समझा जा सकता । अब, अनुवाद में हम भाषा के प्रथम स्तरीय व्यवहार से उस व्यवहार के दर्शक के स्तर पर आरूढ़ होते हैं और उस स्तर के अर्थावधारणों से साक्षात्कारात्मक सम्बन्ध स्थापित करते हैं । इस स्तर पर हमारा वाग्व्यवहार वस्तु-विषयक नहीं होता, वस्तु-विषयक वाग्व्यवहार में अवधारित अर्थ-विषयक होता है । उदाहरणत: हम अनुवाद के प्रसंग में 'समिधामानय' (समिधा ला) अथवा 'सत्यं वद' ऐसा प्रथम स्तरीय भाषा-प्रयोग नहीं करते बल्कि इन शब्दों के वाच्य अर्थों के साथ तादात्म्य स्थापित करते हैं और तब दूसरी भाषा, जैसे इंगलिश, में ऐसे शब्दों की खोज करते हैं जो इन अर्थों का वचन कर सकें । इसके लिए हमें पुन: वही प्रक्रिया इंगलिश भाषा के साथ अपनानी होती है । तब हम देखते हैं कि संस्कृत के ये दोनों वाक्य अंग्रेज़ी में शब्द के स्थान पर शब्द रखने के द्वारा अनुवाद्य नहीं हैं, किन्तु तब भी दूसरे वाक्य का पर्याप्त सरल, समानार्थक वाक्य इंगलिश में उपलब्ध है । अब, यह अर्थ-प्रत्यक्ष निश्शब्द नहीं होता, केवल यह होता है कि अब शब्द और अर्थ आत्मप्रकाशित हो जाते हैं । यह तथ्य दार्शनिक प्रयोजन से रचित अप्राकृतिक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भाषाओं से अधिक सरल रूप से देखा जा सकता है। दार्शनिक इन भाषाओं का आविष्कार प्राकृतिक भाषाओं की अर्थ-रचना से असन्तुष्ट होकर नयी अर्थ-रचना के उद्देश्य से ही करते हैं। इन भाषाओं में प्रत्येक पद और पद-रचनाएं परिभाषित, अर्थात आत्मचेतन अर्थ-परक, होती हैं। उदाहरणत· बर्ट्रेंड रसल ने "स्वर्णपर्वत का अस्तित्व नहीं है" वाक्य में प्रकटतः निहित तार्किक असंगति : उद्देश्य पद द्वारा विहित अस्तित्व का विधेय पद द्वारा निषेध : के निवारण के लिए दिखाया कि किस प्रकार प्रकटतः संज्ञा-पद वास्तव में संज्ञा-पद नहीं होते वल्कि वर्णनात्मक पद होते हैं।[2] प्राकृतिक भाषाओं में अवलोकित इस प्रकार की अयुक्तताओं के निवारण की प्रक्रिया ने आगे विट्गिंश्टाईन के ट्रक्टेटस लोजीको फिलोसोफीकस को और अनन्तर रूडोल्फ कार्नप के लोजीकल सिन्टेक्स आफ लैंग्वेज को जन्म दिया। इसके बाद विट्गिंश्टाइन की दूसरी पुस्तक फिलोसोफीकल इन्वेंस्टीगेशंस् से प्राकृतिक भाषा (लोक-भाषा) के अन्तर्निहित अर्थोद्घाटनों का क्रम आरम्भ हुआ। यहां हमें इन सबके सम्बन्ध में केवल इतना ही कहना है कि ये सब प्रयत्न वास्तव में भाषा के स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ नहीं बताकर इन दार्शनिकों की तत्त्वमीमांसात्मक धारणाओं के सम्बन्ध में ही वताते हैं। हमारे इस कथन का स्पष्टतम उदाहरण क्वाइन के वर्ड एण्ड ऑब्जेक्ट में अनुवाद के स्वरूप का विवेचन है। किन्तु अनुवाद के उदाहरण से हमने ऊपर जो भाषा के स्वरूप-विषयक प्रश्न पर विचार किया उसके तथ्यात्मक और बहुत उद्बोधक अध्ययन नृतत्व वैज्ञानिकों ने प्रस्तुत किये हैं जिनमें बजामिन ली ह्वोर्फ के अध्ययन और विवेचन अत्यधिक अन्तर्दृष्टिपूर्ण हैं। यहां हम एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वस्तुस्थिति का उल्लेख करना चाहेंगे जिसे ये वैज्ञानिक प्रकाश में लाये हैं और वह है बहुत सी आदिम जातियों की भाषाओं का सांस्कृतिक रूप से विकसित जातियों की भाषाओं की तुलना में अवधारण और अवगमन की दृष्टि से कहीं अधिक सूक्ष्म और तर्क-संगत होना। उदाहरणतः ली ह्वोर्फ के अनुसार यूरोपीय भाषाओं के प्रभाव और क्षेत्र-बिस्तार को उनकी अवधारणात्मक सूक्ष्मता और अवगमनात्मक युक्तता का प्रमाण मानने का कोई औचित्य नहीं है। उसके अनुसार "यह देखने के लिए कि बहुत सी असाक्षर जातियों, बिशेषतः अमरीका की असाक्षर जातियों की भाषाएं हमारी भाषाओं से कहीं अधिक युक्तियुक्त और (संरचनात्मक रूप से) समृद्धतर हैं, बहुत अधिक वैज्ञानिक अध्ययन की अपेक्षा नहीं है। अवधारणाओं के आकारिक व्यवस्थापन की दृष्टि से आंग्ल, जर्मन, फ्रांसीय और लातीनी (लेटिन) भाषाएं बहुतसी अमरीकी भाषाओं की तुलना में बहुत विपन्न और घटिया हैं। उदाहरण के लिए "मैं देखता हूं कि यह लाल है" और "मैं देखता हूं कि यह नया है" ("आइ सी देट इट इज रैंड" एण्ड "आइ सी देट इट इज़ न्यू") में जो हमारी चेतना में पर्यवसायी इन्द्रिय-सरणिगत भेद है उसे हमारी भाषा व्यक्त करने में क्यों असमर्थ रहती है जबकि होपी भाषा यह व्यक्त कर पाती है ? हमारी भाषा (आंग्ल) दो पूर्णतः भिन्न प्रकार के सम्बन्धों को 'कि' (दैट) पद-वाच्य एक अस्पष्ट सम्बन्ध में मिला देती है जबकि होपी भाषा इनमें प्रथम सम्बन्ध का संवेदगम्य लाल के रूप में और दूसरे सम्बन्ध का एक ऐसे अनियत प्रमाण के रूप

---

2. बर्ट्रेंड रसल–इंट्रोडक्शन टू मैथेमैटीकल फिलोसोफी, अ. 16.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

में इंगित करती है जिससे नयापन अनुमेय रूप में देखा जाता है।....अब, क्या होपी भाषा विचार की दृष्टि से आंग्ल भाषा से उच्चतर स्तर पर दिखायी नहीं देती ? निश्चित रूप से देती है।[4]"

यहां दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं जो इस प्रतिपादन से आपन्न होते हैं: प्रथम यह कि यह हम किस आधार पर कह सकते हैं कि एक भाषा दूसरी से अधिक या कम युक्ति-संगत, तर्क-सुष्ठु और तत्त्वानुरूप है ? यह प्रश्न ऊपर किये जा रहे विचार के क्रम में ही है। दूसरा यह कि यदि होपी भाषा आंग्ल भाषा से अधिक तत्त्वानुरूप और तर्क-सुष्ठु है तब यह कैसे संभव हुआ कि होपी भाषा-भाषी न केवल आंग्ल भाषा-भाषियों से ही संस्कृति और सभ्यता के सभी क्षेत्रों में कम विकसित हैं बल्कि वे आदिम स्तर पर ही हैं ?

अब, एक भाषा को दूसरी से अधिक युक्त कहने का आधार दोनों भाषाओं के बाहर ही होना चाहिए। यहां व्होर्फ के ही उद्धरण को लेते हुए, आंग्ल भाषा में रंग देखने और नयापन-पुरानापन देखने में प्रयुक्त 'देखना' पद एक ही अर्थ का वाचक नहीं है और इन दो प्रयोगों में यह अर्थ-भेद क्या है यह हम केवल इस वाक्य की ही समीक्षा से नहीं जान सकते, इसके लिए हमें स्वयं भाषा का ही अतिक्रमण कर वस्तु के तत्त्व से, अथवा कहें इन अवगमनों के तत्त्व से सीधा सम्बन्ध स्थापित करना होता है। यह सम्बन्ध हम कैसे स्थापित कर पाते हैं ? इसके लिए हमें इन दो वाक्यों से सम्बन्धित, अथवा कहें वाच्य, अवगमन-स्तरों का भी अतिक्रमण करना और इनसे उच्चतर अवगमन-स्तर पर अवस्थित होना होता है। किन्तु जैसाकि हमने पीछे देखा, वस्तुतः हम प्रथम स्तरीय वाक्य-प्रयोग में भी वस्तु-ग्रहण के प्रथम स्तर का अतिक्रमण कर उच्चतर स्तर पर प्रतिष्ठित हो चुके होते हैं। किन्तु यह आरोहण यही होता है कि अवगमन-अवगम्य अब प्रतीक-रचित या शब्दानुविद्ध होते हैं: दृश्यमान् लाल (रक्त) संवेदन-संवेद्यात्मक नहीं होकर रक्तत्व (सामान्य) से उपचरित संवेद्य होता है जो अध्यव-सायोपचरित संवेद को अवगत होता है। अवश्य हम इसका भी अतिक्रमण कर सकते हैं, किन्तु संवेदन -संवेद्यात्मक स्तर पर अवतरण में नहीं बल्कि धर्मता (सामान्यता) के ऊर्ध्वतर स्तर पर आरोहण में। निश्चय ही हम इस आरोहण में भाषा मात्र की सीमा के बाहर भी हो सकते हैं, उदाहरणतः चित्रात्मक अवगमन या संगीतात्मक अवगमन में हम भाषा के क्षेत्र में नहीं होते, किन्तु हम प्रतीकात्मकता की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकते—सिवाय इस बात में कि प्रतीक स्वरूपतः अपने से परे के तत्त्व को लक्षित और प्रकाशित करता है। किन्तु इसके साथ ही यह भी महत्त्वपूर्ण है कि बौद्धिक चेतना को यह पर-तत्त्व प्रतीक के माध्यम से ही प्रकाशित होता है, निरावृत रूप में नहीं। किन्तु इससे प्रतीक को ऐसी उपाधि मानना भी युक्त नहीं जो अनिवार्यतः आवरक ही होती है। जैसा कि हमने पीछे अनेक स्थलों पर प्रति-पादित किया, प्रतीक आवरक (अपारदर्शक) ही नहीं, पारदर्शक भी हो सकता है और यहां

---

4. लैंग्वेज इन कल्चर एण्ड सोसाइटी (सं.) डैल हाइम्स में ''बंजामिन ली व्होर्फ का लेख "ए लिंग्विस्टिक कंसिडरेशन आफ थिंकिंग", पृ, 140.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ऊपर विवेचित भाषा का परावाक्-पर्यन्त और अतिभाषात्मक ऊर्ध्वारोहण भाषा की इस विशेषता का ही द्योतक है।

दूसरा प्रश्न था कि, ऐसा कैसे संभव हो सका कि होपी भाषा के आंग्ल भाषा की तुलना में अधिक तर्क-सुष्ठु और वस्तु-तत्त्वानुरूप होने पर भी होपी जाति संस्कृति और सभ्यता के विकास में पिछड़ी और आंग्ल जाति बहुत उन्नत है ? यहां एक इससे भी प्राथमिक प्रश्न हो सकता है, कि ऐसा क्यों है कि एक भाषा दूसरी से अधिक युक्त और सम्यक् होती है, जैसे होपी भाषा आंग्ल भाषा से है ? इसका एक उत्तर हो सकता है कि विभिन्न भाषाओं के आविर्भाव के आरभिक चरणों में उन भाषाओं में स्फुटित होने वाले विभिन्न समुदायों के बौद्धिक स्तर भिन्न थे। किन्तु इस प्रकार के अभ्युपगम संभवतः युक्तिसंगत नहीं हैं। जैसा कि हमने ऊपर देखा, भाषा का आविर्भाव चेतना का तमसावरण-मूकता का भेदन कर शब्द-प्रतीकों के अवलंबन से आत्मप्रकाश के लोक में उन्मीलित होना है। प्रकाश का यह लोक नितान्त मौलिक होता है: मौलिक अर्थात् युगपद् रूप से सृजनात्मक और साक्षात्कारात्मक। निश्चय ही यह लोक विज्ञानमय नहीं होकर मनोमय के अवर स्तरों में खुलते अन्नमय और प्राणमय आत्मा का ही होता है, किन्तु होता यह नितान्त मौलिक है। उन्मीलन के इन आरंभिक चरणों में ये विभिन्न समुदाय जिन शब्द-प्रतीकों में स्फुटित होते हैं उसकी युक्तता का मानदंड बाह्यतः स्थिर करना उपयुक्त नहीं है। ऐसा करने में वाचक-वाच्य-सम्बन्ध का भी कोई बाह्य मानदंड मानना होगा, जोकि वह नहीं होता। उदाहरणतः संरचनात्मक रूप से आत्मबाधक वाक्य "स्वर्णपर्वत का अस्तित्व नहीं है" को लें जिसके इस दोष के निवारण के लिए रसल ने वर्णन-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। किन्तु वास्तव में जनसाधारण के लिए इस वाक्य में यह दोष विद्यमान ही नहीं है, यह दोष केवल उन तर्कशास्त्रियों के लिए था जिन्होंने इसके आकार को प्रतीकात्मक नहीं मानकर आत्मपर्यन्त मान लिया। रसल ने इसके आकार की प्रकट बाधा का भेदन कर इसके वाच्य से इसे पुनः जोड़ा। किन्तु उसने इसके प्रकट आकार को ज्यों का त्यों रखा, इस प्रकट आकार के एक दूसरे वास्तविक आकार को नहीं देखा जिसमें यह उद्देश्य और विधेय दो पदों का संयोग नहीं होकर एक ही पद है।

साधारणतः लोक-भाषा में एक लाघव की प्रवृत्ति रहती है और वह पदों और पद-संरचनाओं के अतिरिक्त अनेक उपायों का आश्रय भी लेती है और बहुत बार केवल वक्ताओं की समझदारी के भरोसे ही बात छोड़ दी जाती है। 'देखना' पद का उपर्युक्त उदाहरण इसी प्रकार का है। इसके अतिरिक्त, क्रियाओं, अवस्थाओं, भाव-भंगियों आदि-आदि की विभिन्नताओं के अनुसार उनके वाचक पदों का बाहुल्य और न्यूनता अनिवार्यतः किसी भाषा की सम्पन्नता-विपन्नता के द्योतक नहीं होते। उदाहरणतः आयु-अवस्थाओं के भेद के अनुसार ऊंट के, और भावावस्थाओं के अनुसार मौसमके विभिन्न नाम होना न उस भाषा की उस भाषा से अधिक समृद्धि का द्योतक होता है जिसमें एक ही नाम के साथ विशेषण जोड़ कर काम चलाया जाता है और न उसके बोलने वालों के मानसिक विकास की उत्कृष्टता का ही। बल्कि इसके विपरीत कहना अधिक उपयुक्त हो सकता। है

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

किन्तु यहां एक दूसरी और अधिक महत्त्वपूर्ण बात है जो ध्यातव्य है और वह यह कि प्रकृति का भौतिक अवधारण सब संस्कृतियों में समान नहीं है, इसका शुद्ध भौतिक अवधारण तो केवल आधुनिक यूरोप की ही विशेषता है जिसका प्रभाव दूसरी संस्कृतियों में भी परिलक्षित होता है। पिछले समयों में सभी सस्कृतियों में प्रकृति सप्र'ण, और कभी-कभी चेतन रूप में भी अवधारित थी। इसी प्रकार जगत् की अवधारणा में मिथक-दृष्टि बहुत अधिक प्रबल थी। यह दृष्टि सदैव भ्रांत और बाल-कल्पनात्मक थी यह कहना केवल संकुचितता और अहंकार का द्योतक है। उदाहरणतः प्राचीन भारत और यूनान में दृष्टि की जैसी नैतिक और आध्यात्मिक सूक्ष्मता दृष्टिगत होती है वैसी आज की वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि में दिखायी नहीं देती और इन दो संस्कृतियो की प्राचीन भाषा अत्यधिक मिथकीय है, विशेषतः वैदिक कालीन भारतीय संस्कृति की। ऐसे में भाषाओं की ऐसे वाक्यों के आधार पर तुलना करना जैसों को उदाहरण रूप में व्होर्फ ने प्रस्तुत किया है, संभवतः भ्रामक है। जहां तक आदिम जातियों का प्रश्न है, वे अवश्य नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टियों से भी अल्प-विकसित होती हैं। किन्तु तब उन की दृष्टि, और उसके साथ अनिवार्यतः उनकी भाषा भी मिथकीय है, इसलिए इन जातियों की भाषाओं में "यह लाल दिखायी देता हूँ" जैसे वाक्यों का अर्थ उस संपूर्ण अर्थ-संरचना से पृथक् करके देखना उचित नहीं है और परिणामतः वह अंग्रेज़ी भाषा के वाक्यों से तुलनीय नहीं हो सकता।

पी–५१, मधुवन पश्चिम,
टोंक रोड, किसान मार्ग, जयपुर–३०२०१५.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

3

भारतीय संस्कृति : परिवर्तन की चुनौती

रमेशचंद्र शाह

पुरातनता का यह निर्मोक सहन करती न प्रकृति पल एक
नित्य नूतनता का आनन्द किए है परिवर्तन [में टेक
युगों की चट्टानों पर सृष्टि डाल पद-चिह्न 'चली गंभीर
देव-गंधर्व-असुर की पंक्ति अनुसरण करती उसे अधीर

जयशंकर प्रसाद ['कामायनी']

भारतीय संस्कृति, कहना चाहिए भारतीय धर्म, की मूल संकल्पना और मूल ज्ञान-प्रतीकों के भीतर ही परिवर्तन के तथ्य की निर्भय और निर्भ्रान्त स्वीकृति निहित होनी चाहिए; ऐसा लगता है। चाहे हम भक्ति-आंदोलन को देखें, चाहे इसी सदी में गांधीजी और श्री अरविन्द जैसे परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले मनीषियों के जीवन-मार्ग को, चाहे आधुनिक हिन्दी कवि निराला के विचारों को, सभी में हमें जहां एक ओर जीवन में सनातन सत्य की खोज का वही बद्धमूल आग्रह दिखाई देता है वहीं दूसरी ओर—इसी आग्रह की पूर्ति के अनिवार्य पूर्व-कर्त्तव्य की तरह—स्वयं जीवन और काल-प्रवाह द्वारा प्रस्तुत परिवर्तन की चुनौतियों को स्वीकारते हुए आत्म-नवीकरण के संकल्प और तदनुकूल कर्मज्ञता का भी।

मानव-समाज एक स्थूल संरचना भी है और अमूर्त संरचना भी। समाज के परिवर्तन की बात करते हुए हम अधिकतर उसकी स्थूल संरचना की ही बात कर रहे होते हैं और आपसी सम्बन्धों को बदलने से हमारा आशय इसी स्थूल संरचना के आपसी सम्बन्धों को बदलने से होता है। इसी तरह संस्कृति में परिवर्तन की जब हम बात करते हैं तो यहाँ भी हम प्रमुख रूप से आचार-व्यवहार और व्यवस्था को ही बदलने की बात सोच रहे होते हैं। सस्कृति निश्चय ही हमारे सामूहिक अनुभव के टिकाऊ मूल्यों पर ही आधारित होती है, किन्तु हर सर्जक-कलाकार का और कर्मयोगी का भी अनुभव यही बताता है कि इस आस्था को अर्जित भी करना पड़ता है; वह जोखिम से ही निखरती भी है। कौन नहीं जानता कि यह

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

संस्कृति का स्थितिशील पक्ष ही है जो किसी समाज को स्थायित्व देता है। फिर भी संस्कृति न तो विशुद्ध स्थिति है, न विशुद्ध स्थितिशीलता ही। वह अनिवार्यतः एक गतिशील प्रक्रिया भी है। वह योगी और महात्मा की अन्तर्दृष्टि भी है जो शाश्वत सत्यों को ही नहीं नए सत्यों को भी उद्घाटित करती है। वह सर्जक-कलाकार-अन्वेषक की कल्पना और प्रयोग भी है। इस प्रकार संस्कृति जिस तरह हममें अपनी जड़ों की पहचान जगाती है उसी तरह वह हममें परिवर्तन की पहचान और प्रेरणा भी जगा सकती है और उसकी संभावनाएँ भी झलका सकती है।

भारतीय संस्कृति के सामने आज जो सबसे बड़ी चुनोति है वह सामाजिक परिवर्तन की नहीं, उस परिवर्तन की है जो उसके समूचे ऐतिहासिक अस्मिता-बोध को ही नष्ट कर देने को उतारू है। लगता है जैसे हम भारतीयों को भी निर्देवीकरण (डिसैक्रडाइजे.शन) का वह मरुस्थल अपनी लपेट में ले रहा है जहां पश्चिम की ऐतिहासिक नियति ने उसे ला छोड़ा है। भारतीय सभ्यता और संस्कृति का मूल, सच पूछा जाय तो, उन प्रश्नों में है जो सत्य को पावनता से अभिन्न मानकर पूछे गए थे जबकि पश्चिमी फलसफाई परम्परा की शुरुआत ही लगभग ऐसे प्रश्नों से हुई जिसके कारण सत्य को 'पावन' से अलगाकर ही सत्य का अनुसंधान करने की लीक पड़ गई। उसी मुताबिक उनकी भाषाओं — अवधारणाओं का भी विकास हुआ। विश्व के अवधारणात्मक वशीकरण की लालसा से विकसित इन विचार-पद्धतियों को बिना आलोचनात्मक सजगता के ज्यों का त्यों अपनाकर हमने भी स्वयं अपने ज्ञान-प्रतीकों की ग़लत व्याख्या का ख़तरा मोल लिया। राममोहन राय यों धर्म-दर्शन के मामले में पश्चिम के सामने झुके नहीं, अपनी पारंपरिक अद्वैत दृष्टि को मज़बूती से थामे रहे। किंतु एक भूल उनसे भी हुई : पश्चिमी धार्मिक शब्दावली में अपनी धर्मदृष्टि का भी मूल्यांकन करने की। मैक्समूलर को यह देखकर बड़ी खुशी हुई थी कि सन् 1850 में ब्राह्म समाज ने वेद को बाकायदा 'धर्मग्रंथ' के सिंहासन से उतार दिया था। लेकिन एक बार वेद को पश्चिमी अर्थों में स्क्रिप्चर (धर्मग्रंथ) मान लेना ही क्या उसे—और उसके बारे में अपनी परंपरागत स्मृति को—अपदस्थ कर देना नहीं था ?

यहां इस बात को उठाने के पीछे मेरा आशय है कि जिस तरह मनुष्य के धार्मिक आयाम की हमारी समझ का मूल्यांकन 'धर्मग्रंथ' की कोटि में सोचने से नहीं किया जा सकता उसी तरह सामाजिक न्याय, समता, समृद्धि, दरिद्रता और स्वयं 'परिवर्तन' की समस्याओं को भी हमें अपने ही सांस्कृतिक आत्म-बोध और विश्व-बोध की शब्दावली में समझना पड़ेगा। नहीं तो अनर्थ की आशंका है। और आशंका ही क्यों, हमारे सेकुलराइज़्ड और 'प्रगतिवादी' बुद्धिजीवियों ने अपनी कारगुज़ारियों से इस आशंका को वास्तविकता में भी बदल डाला है। संतोष की बात सिर्फ इतनी ही है कि सामाजिक न्याय और समता के लिए संघर्षरत बुद्धिजीवियों के बीच कुछ गांधीवादी और समाजवादी चिंतकों में यह सावधानी और सांस्कृतिक विवेक रह-रह कर झलक जाता है। कहना न होगा कि आचार्य नरेंद्रदेव उन्हीं में थे। उन्हीं की परम्परा से जुड़कर प्रखर समाजवादी और हिन्दी के विख्यात कवि-आलोचक स्वर्गीय विजयदेवनारायण साही यह कह सकते थे कि "आज विश्व के सामने जो सबसे बड़ी समस्या

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

साम्य को वे अन्य साम्यवादी विचारों से इसलिए उत्कृष्ट मानते हैं कि "वह तोड़ने वाला नहीं, जोड़ने वाला है," सारे संसार के मनुष्यों को जोड़ने वाला। निराला कहते हैं कि "यूरोपीय है वह त्रासजनित विवेक को पावनताजनित विवेक में बदलने की है।" यह बात इस तरह, मैं नहीं समझता कि कोई कम्युनिस्ट लेखक कह सकता था। और सचमुच, यह आकस्मिक नहीं कि हिन्दी के जिन लेखकों में अपने समाज की सही पहचान, सही आलोचना और परिवर्तन की सही तड़प के साथ उसके स्वभाव की भी गहरी समझ दिखाई देती है उनमें से अधिकतर लेखक समाजवादी आंदोलन से जुड़े थे, और यह भी निरा संयोग नहीं कि रचना और विचार-शीलता की दृष्टि से भी वही सबसे उर्वर भी साबित हुए। किंतु यह भी उतना ही सही है कि उनमें से किसी ने भी अपने समाज की शक्ति और दौर्बल्य का, उसके आंतरिक द्वन्द्व और रचनात्मक संभावनाओं का विराट् फलक पर साक्षात्कार नहीं किया। तब फिर यह प्रश्न मन में उठेगा ही कि यह समाजवादी चिंतन अपनी खुराक जिस स्रोत से खींचता था क्या वह स्रोत भारतीय चित्त की गहराई में बहुत भीतर तक गया है? उसकी तात्त्विक पहचान क्या है जो उसे औरों से स्पष्ट अलगा सके?

देखा जाय तो राममोहन राय से लगाकर महात्मा गांधी तक एक भी ऐसा कर्मज्ञ विचारक नहीं मिलेगा जिसने आधुनिक भारत की कल्पना पश्चिमीकृत भारत के रूप में की हो। पश्चिम के गहन सम्पर्क में रहकर और अपने तरीके से उसके प्रशंसक होते हुए भी गांधीजी की दृष्टि भारतीय धर्मदृष्टि के आधार पर ही सामाजिक-राजनीतिक समस्याओं का समाधान ढूंढती थी। क्या पंडित नेहरू गांधीजी की इस 'होलिस्टिक' जीवन-दृष्टि से संवेदित थे? क्या समाजवादी युवकों को उन्हीं की भाषा ज़्यादा समझ में नहीं आती थी? बाद में उनमें से जिन लोगों का उनसे मोहभग हुआ उनके बारे में भी शायद यह कहना कठिन होगा कि वे उस मोहभंग के तात्त्विक आधार तक पहुँच गए थे। किंतु पिछले वर्षों में अनेक भूतपूर्व समाजवादियों में इस 'होलिस्टिक' विश्व-दृष्टि की गहरी समझ पैदा हुई है और कहा जा सकता है कि न केवल बौद्ध धर्म-दर्शन बल्कि स्वयं सनातन धर्म-दृष्टि के प्रति भी उनके दृष्टिकोण में गुणात्मक और आधारभूत परिवर्तन आया है। मैं इसे आचार्य नरेंद्रदेव के चिंतन से विचलन न मानकर उनकी उसी पहल का सर्वथा स्वाभाविक और अनिवार्य परिणमन मानता हूँ।

तनिक हम राजनीतिक क्षेत्र के चिंतकों से ध्यान हटाकर देखें कि स्वतंत्रतापूर्व के उन वर्षों में देश का साहित्यकार किस स्तर पर इस परिवर्तन की चुनौती को ग्रहण कर रहा था तो मेरा ख्याल है कि हम समाजवादी लेखकों के चिंतन में आए वर्तमान गुणात्मक परिवर्तन भी अनिवार्यता को समझ सकेंगे। मैंने इस परचे की शुरुआत प्रसाद की काव्यपंक्तियों से की है। यहाँ मैं उसी सत्याग्रह-युग के दूसरे महाकवि निराला की थोड़ीचर्चा करना चाहूँगा।

निराला अक्सर अपने लेखों[1] में 'साम्य' की बात करते हैं। साम्य से उनका आशय वेदान्तिक साम्य से होता है। वे 'चिरंतन द्विजत्व' की धारणा को अस्वीकार करते हैं। वेदान्तिक

1. द्रष्टव्य—निराला-रचनावली, खण्ड 6, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इतिहास में सारे परिवर्तन तोड़क रहे हैं : यानी, इसे नष्ट कर दो तो सब दुरुस्त हो जायेगा ।" इस तोड़क भाव के प्राधान्य का कारण निराला 'भोगवाद' में ढूँढते हैं । वेदान्तिक साम्य-दर्शन इसके सर्वथा विपरीत है ।

वर्णाश्रम को लेकर हमारे बुद्धिजीवियों में इकतरफ़ा बातें मिलती हैं । गांधीजी को लेकर भी समाजवादियों में यह ग्रन्थि सदा बद्धमूल रही आई कि उन्होंने वर्णव्यवस्था का सीधा साफ़ विरोध क्यों नहीं किया । निराला के कथनानुसार, "वर्णाश्रम-धर्म एक ऐसी सामाजिक स्थिति है जो चिरंतन है । स्वाधीन समाज की इससे अच्छी वर्णना नहीं हो सकती । कोई समाज इस धर्म को मानता भले न हो पर वह संगठित इसी रूप में होगा ।" किन्तु इतना स्वीकार कर लेने के बाद निराला दूसरी ओर यह स्पष्ट कर देना भी ज़रूरी समझते हैं कि "यह अधिकार सार्वभौमिक है, एकदेशिक, जातिगत या व्यक्तिगत नहीं ।" वह वेदान्तिक साम्य की जीवन्त प्रेरणा से ही अर्थ पाता है और, चूँकि "यह स्थान हमारे समाज के अंतःकरण में आज नहीं पाया जाता इसलिए उसके मनुष्य मौलिक विचारों से रहित जड़ अधिकारों की रक्षा में व्यस्त हो रहे हैं ।"

निराला समाज में हो रही उथल-पुथल को देख रहे हैं और पाते हैं कि "ब्राह्मणों को गालियाँ तो सभी देते हैं पर ब्राह्मण बनने का इरादा कोई भी नवीन संगठित जाति नहीं छोड़ती ।" तो यह परिवर्तन हुआ कि परिवर्तन की विडम्बना ? निराला साफ़ कहते हैं : "चूँकि हम शूद्र हो चुके हैं, इसलिए दास्यवृत्ति भारत के लिए भौतिक विज्ञान के सामने आत्मसमर्पण कर देना स्वाभाविक है । यूरोप में यथार्थ वैश्य, यथार्थ क्षत्रिय, और कुछ ब्राह्मण भी हैं । इसीलिए इस योरोप की शक्ति का सिक्का हम पर जमा है ।"

परिवर्तन को न केवल संभव, बल्कि अनिवार्य बताने वाला यह कवि हिन्दू धर्म की व्यापकता का उल्लेख करते हुए उसका मूल-स्रोत "ईश्वर की अनंतरूपता में विश्वास" को बताता है ।" इसीलिए संसार के सभी वर्तमान और भविष्य धर्म भी उसकी परिधि में प्रविष्ट किये जा सकते हैं ।"

'हमारे समाज का भविष्य रूप' में निराला अपनी इसी प्रतीति को दुहराते हैं कि "हमारे समाज का आदिम रूप संगठन के लिए सर्वथा उपयुक्त था । पर इस समय वह मृत है ।" भविष्य की आशा वे इस तथ्य में देखते हैं कि "एक दूसरा समाज इसके पीछे तैयार हो रहा है, जिसमें प्राचीन अधिकारियों के अधिकार पूर्ववत् नहीं रह सकते ।" निराला इस बात से अत्यन्त खिन्न हैं कि अपनी मर्यादा से पूर्णतः स्खलित हो चुकने के बाद भी ये उच्चवर्णी लोग अपनी मर्यादा की दुराकांक्षा अभी तक धारण किए हुए हैं, यद्यपि इस ओत-प्रोत शूद्रत्व में उनके भी सब अंग डूबे हुए हैं ।" यह व्यवस्था, निराला के विचार में, महाभारत काल से ही टूटने लगी थी । मुस्लिम शासन में वह शरीर दुर्बल हुआ और अंग्रेज़ी शासन में उसकी नाड़ियों में खून भी दूसरा बहने लगा । निराला ब्राह्मणों की आलोचना में अतिरिक्त कठोरता का परिचय देते हैं परंतु उनकी इस बात से भला कौन असहमत होगा कि "बड़ा जब बलात् बड़प्पन कबूल कराता है तब वह बड़ा नहीं रह जाता ।" वे महसूस करते हैं कि यह जातीय

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

समीकरण का युग है। अब सब जातियाँ समान हैं। जो सदियों से सेवा करती आ रही हैं उन्हीं जातियों में यथार्थ मनोबल है। जब तक उनका उत्थान न होगा, भारत का उत्थान नहीं होगा।" क्या आरक्षण के विचार का मूल इसी 'यथार्थ मनोबल' की खोज में है? इस प्रश्न का हमें ईमानदारी से जवाब देना होगा।

निराला निश्चय ही तत्कालीन भारतीय समाज की छटपटाहट को देख रहे थे और एक भारतीय आधुनिकता के विकास के बारे में आश्वस्त होना चाहते थे। इसमें वे विवेकानन्द के विचारों से प्रभावित थे। मगर क्या स्वयं 'हिंद स्वराज' के प्रणेता ने 'यंग इण्डिया' का ही स्वप्न नहीं देखा था? किन्तु इधर परम्परावादियों और आधुनिकतावादियों के बीच की बहस ने एक अजीब मोड़ ले लिया है। आधुनिकता को 'सेकुलरिज्म' और 'पश्चिमीकरण' का पर्याय मान कर हमारे कुछ नीरन्ध्र परंपरावादी एक विचित्र ढंग की असहिष्णुता का परिचय देने लगे हैं। उनकी 'परंपरा' की चिंता अब पंडित नेहरू से ही नहीं, महात्मा गांधी से भी छुट्टी पा जाना चाहती है। राममोहन राय के साथ-साथ अब वह विवेकानंद को भी भारत के सार्वजनिक दुर्भाग्य की तरह निरूपित करने लगी है। यह प्रवृत्ति चिन्त्य है।

दरअसल हमारी परम्परा जहाँ एक ओर अविच्छिन्नता प्रकट करती है वहीं दूसरी ओर टूटन-विखण्डन तथा प्रामाणिकता एवं साझे के विश्वासों की क्षति भी। एक ओर वे परंपरागत पण्डित हैं जिनके बिना परम्परा का अविच्छिन्न सूत्र ही लुप्त हो गया होता दूसरी ओर हममें से बहुतों की तरह वे अधकचरे आधुनिक हैं जो अपने उस बचे हुए अतीत को समझना-समझाना चाहते हैं—वर्तमान की भाषा में और मनुष्य तथा जगत् के बारे में वर्तमान जानकारी के सदर्भ मे। प्रश्न यह है कि इन दोनों का—परम्परागत पंडितों तथा आधुनिक बुद्धिजीवियों का क्या कोई फलप्रद सम्बन्ध हो सकता है?

कोई भी परम्परा अपने सुदीर्घ इतिहास के दौरान सृजन, आदान और प्रदान के अनेकविध उद्यमों के जरिए विकसित होती है। आदान-प्रदान स्वयं भी सृजनात्मकता का तत्त्व लिये होते हैं—खासकर हमारे इतिहास के उन क्षणों में जिन्हें निर्णायक मोड़ की संज्ञा दी जाती है। प्रत्येक चरण में वे, जोकि उस परम्परा को विरासत में प्राप्त करते हैं, किसी एक ढंग से उसकी व्याख्या करते हैं और उसका प्रसार भी वे उसे परिवर्तित करके ही करते हैं। वैदिक वाङ्मय इसी विधि से दो सहस्राब्दियों से भी अधिक समय तक विकसित होता रहा। कालान्तर में भी उसमें और व्याख्याएँ जुड़ी होंगी, जब तक कि शताब्दियों बाद सायण ने ऋग्वेद संहिता का एक ऐसा भाष्य नहीं कर दिया जो आगे की सदियों के लिए निश्चित-निर्णायक सा बन गया। तत्पश्चात् अंग्रेजों के आने के साथ और वेद में पश्चिमी विद्वानों की रुचि जगने के बाद एक नए युग का सूत्रपात हुआ जिसने व्याख्या के नए प्रयत्नों को जन्म दिया। इनमें से कुछ प्रयत्न तो तथाकथित वस्तुपरक विद्वत्ता से, यानी बाहर से व्याख्या करने की यूरोपीय विद्वत्परम्परा से निकले थे, और कुछ अपने को उस परम्परा से तदात्म करके—जैसाकि स्वामी दयानंद, कुमार स्वामी, श्री अरविन्द और अनिर्वाण इत्यादि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ने किया। लगता है कि भविष्य, सर्जनात्मक पुनर्व्याख्या के विविध विकल्पों की खुली अनुमति दे रहा है।

भारतीय संस्कृति यदि सभ्यतागत परिवर्तनों को समायोजित कर सकने की अद्भुत सामर्थ्य एक लम्बे अरसे तक प्रदर्शित करती रह सकी तो इसीलिए कि उसकी मूल प्रेरणा में—उसके हृदय में ही—एक अभूतपूर्व लोच और खुलापन था। यह लोच और खुलापन जिस विशेषता का परिणाम था वह था सत्य या ऋत को सर्वोपरि मानने और जानने का आग्रह। बल्कि उसे आग्रह कहना ग़लत होगा, क्योंकि वह तो उनके लिए साक्षात्कृत परमार्थ था, कोई सामूहिक या महज़ ऐतिहासिक निर्णय नहीं। यह अकारण नहीं था कि वैदिक ऋषियों ने 'ऋत' यानी सत्य के अपने ज्ञानात्मक अनुभव को न तो देवता के रूप में मूर्त्त रूप देने की कोशिश की न 'अवेस्ता' की तरह उसका मानवीकरण करने की। सत्य की दिव्यता और सर्वोच्चता उनके लिए देवतामात्र की जननी है: किसी ख़ास देवता के नाम-रूप से उसे बाँधने की भूल उन्होंने नहीं की। फिर भी, समस्त भारतीय धार्मिक और दार्शनिक चिंतन का पवित्र उद्गम और लक्ष्य सदैव यही रहा। 'थियोलॉजी' और 'फिलॉसफी' के दो पृथक् क्षेत्रों में सत्य का बँटवारा कर देने की उन्हें कभी नहीं सूझी।

पश्चिमी संस्कृति में इसके विपरीत दो धाराओं का अलगाव शुरू से ही ज़ाहिर है: एक तो यूनान से निकली फ़लसफ़े की परम्परा और दूसरी धार्मिक परम्परा, जिसकी जड़ें अन्यत्र हैं। इस तरह सत्य मानो पहली धारा का सरोकार है और धर्मविश्वास अथवा आस्था दूसरी धारा का। या यों कहें, कि ये विश्वास के ही दो प्रकार हैं: एक तो—तर्क-बुद्धि पर विश्वास और दूसरा, ईश्वर पर विश्वास। इन दो धाराओं के बीच सदैव तीखा तनाव रहा है और इस तनाव से ही निकली और बनी विचार-प्रणाली, जो अनेक ऐतिहासिक संयोगों के फलस्वरूप इस वक्त समूचे विश्व पर हावी है, भारतीय धर्म, संस्कृति और जीवन-रूपों को यथावत् समझने में न केवल स्वभावतः अक्षम रही है बल्कि उसने अपने सम्पर्क में आए दूसरे तमाम समाजों में—स्वयं भारतीय समाज के भीतर भी—भयानक भ्रान्तियाँ और अन्तर्विरोध पैदा कर दिये हैं।

आधुनिक भारत के निर्माताओं ने आधुनिकीकरण तो चाहा—आत्म-नवीकरण के उद्देश्य की पूर्ति हेतु—किंतु यह आधुनिकीकरण वे अपनी शर्त्तों पर—यानी, भारतीय विश्व-दृष्टि और आत्म-दृष्टि के मूल मनोभाव के अनुरूप ही, चाहते थे, पश्चिमीकरण की शर्त्त पर नहीं। तुलना में जापान को देखें तो लगेगा कि आधुनिकीकरण वहाँ पश्चिमीकरण का पर्याय बनकर ही आया। जापान की अपेक्षा भारत पश्चिम के अधिक निकट था और इस कारण भी वह यूरोप के स्खलन को अधिक स्पष्ट रूप से देख सकने की स्थिति में था। जापान में यह आत्म-सजगता उस तरह उत्पन्न नहीं हुई। कहा जा सकता है कि पश्चिम के आधुनिक इतिहास की लपेट में आने की प्रक्रिया में ही भारत में अपने ऐतिहासिक अतीत को पुनरुपलब्ध करने की प्रक्रिया आरम्भ हो गई, उस ऐतिहासिक अतीत को जो यूरोपीय संस्कृति के ऐतिहासिक आरम्भ-बिंदु से बुनियादी तौर पर भिन्न था। यह भिन्नता क्या है, इस पर प्रोफ़ेसर जड़ावलाल मेहता की निम्नलिखित टिप्पणी ध्यान देने योग्य है:

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

"ईसा से अट्ठारह शताब्दी पूर्व अब्राहम ने 'ईश्वर' का एक ऐसी सर्वोच्च सत्ता के रूप में आविष्कार किया जिसे और केवल मात्र जिसे, मनुष्य अपना स्वामी और नियंता स्वीकार कर सकता है। लगभग उसी समय मध्य एशिया के एक मानव–समूह ने परात्पर सत्य का एक ऐसी सर्वोच्च और पवित्रतम सत्ता के रूप में साक्षात्कार किया जो देवताओं का भी आराध्य है—जिस का देवगण मनुष्यों के साथ मिलकर आह्वान करते हैं। दूसरे आविष्कार ने ग्रन्थ वाले धर्मों को जन्म दिया और पहले ने उस आन्तरिक तर्क को जो दिव्यता के आयाम से जीवन के हर पहलू को अनुप्रविष्ट करने को प्रतिश्रुत है। वैदिक काल से महाभारत काल में, और उसके बाद के भी तीन हज़ार वर्षों के धार्मिक इतिहास में चाहे जितना भी परिवर्तन आया हो, मगर सत्य और पावनता की अविच्छेद्य एकता का वह सूत्र नहीं टूटा। यह सूत्र ही भारत की ऐतिहासिक नियति है और इसके पीछे वही संकल्प है : चाहे जो भी क़ीमत चुकानी पड़े, किन्तु मानवीय जीवन में दिव्यता के आयाम की रक्षा करनी ही है।"[2]

जिन पडितों ने वेद के प्रथम संपादक-अनुवादक मैक्समूलर को मोक्षमूलर की पदवी प्रदान करते हुए उसे यास्क और सायण की पंक्ति में बिठाने की उदारता दिखाई उन्हें इस प्रश्न ने उद्वेलित नहीं किया कि श्रुति का 'धर्मग्रन्थ' में यह रूपान्तरण भारत के भविष्य के लिए क्या अर्थ रखता है। न उन्होंने मैक्समूलर के मूल्यांकन पर ही आपत्ति उठाने की ज़रूरत समझी। मैक्समूलर आख़िर इतिहासवाद और प्रगतिवाद के स्वर्णयुग' की उपज था, जब अतीत के मूल्यांकन का मतलब या तो रूमानी पूजा की पराकाष्ठा होता था या फिर भावी पूर्णता के पक्ष में एक पिछड़ी हुई चीज़ का अवमूल्यन। एक जगह वह लिखता है :

"वेद के इस अनुवाद का भारत की भावी नियति पर, करोड़ों भारतवासियों के आत्म–विकास पर, ज़बर्दस्त असर पड़ेगा। आख़िर वेद उनके धर्म का मूल स्रोत रहे हैं। और यह मूल दरअसल है क्या, इसका पता जब पहली बार उन्हें चलेगा (न मंदिर, न मूर्त्तियाँ ?) तो मुझे विश्वास है, यह रहस्योद्घाटन, पिछले तीन हज़ार सालों के दौरान धर्म के नाम पर जो झाड़–झंखाड़ यहाँ पनपा है, उसे उखाड़ फेंकेगा।"

मैक्समूलर की निगाह में वेद निहायत बचकाना चीज़ है, जिसका मात्र ऐतिहासिक महत्त्व हो सकता है। ध्यान देने की बात है कि सब कुछ के बावजूद इतिहास की यह अवधारणा अभी भी ख़त्म नहीं हुई है : अभी भी वह बहुत सारे विद्वानों पर हावी है। पूरी सदी तबसे बीत गई—दो-दो महायुद्ध हो चुके—समूची दुनिया के सर्वनाश का ख़तरा भी उपस्थित हो गया और इन सारी घटनाओं ने पश्चिम के प्रगतिवादी विश्वास को जबर्दस्त धक्का भी पहुंचाया, तो भी इतिहासवाद के या इतिहास की पश्चिमी अवधारणा के पुनर्मूल्यांकन की अनिवार्यता सर्वत्र स्वीकार कर ली गई हो—ऐसा लगता नहीं।

---

२. जड़ावलाल महता–फिलोसोफी एंड रिलिज्यनः एस्सेज़ इन इंटर्प्रिटेशन, भा.दा.अ.प., नई दिल्ली 1990, पृ. 101.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अपने सुदीर्घ इतिहास की सारी उथल-पुथल के बीच वह एक चीज़, जिसे हमारे पुरखे गले से लगाए रहे, निरन्तर सर्जनात्मक रूपान्तरण के बूते, वह यही थी : दिव्य और पावन के साथ उनका आत्मीय रिश्ता, जिसकी अभिव्यक्ति प्रत्येक ऐतिहासिक युग में उभरती नई-नई चुनौतियों के प्रत्युत्तर में बदलती रही है। पश्चिम के विद्वान अधिकतर इस नैरन्तर्य की व्याख्या एक असमर्थता के रूप में करते रहे हैं : आदिम पशु-पूजा से ऊपर न उठ सकने की असमर्थता में, या मिथकीय सोच से तार्किक चिंतन में, जादू से बुद्धि में, 'रेलीजन' से 'फेथ' की ओर प्रगति की छलाँग न लगा सकने की अक्षमता के रूप में। किन्तु आधुनिक विश्व-सभ्यता के सामने ऐसी छलाँगों के फलस्वरूप ही जो आमूलचूल निर्देवीकरण का, पावनता और दिव्यता के आयाम की सम्पूर्ण वंचना का ख़तरा पैदा हो गया है उसने अब इस 'सेकुलराइज़ेशन' के पीछे निहित धार्मिक जड़ों के बारे में किसी मुग़ालते की गुंजाइश नहीं छोड़ी है। आज की तारीख़ में, जब भारत के धार्मिक इतिहास की इस अनोखी घटना को, दिव्य और पावन से साथ अटूट रिश्ता कायम रख सकने की इस सफलता के मर्म को, मनुष्य-जाति एक महान् आश्चर्य की तरह पहचान रही है, तब सवाल यह नहीं है कि देवता अनेक हैं एक, कि अमुक धर्म सही है अमुक। आज का ज्वलन्त प्रश्न यह है कि मानव-जीवन क्या दिव्यता के आयाम से बहिष्कृत होकर मानवीय भी रह सकता है? आखिर उसी आयाय में तो ईश्वर या देवताओं की उपस्थिति या अनुपस्थिति की चर्चा संभव है! वही जब नहीं रहेगा तो बाकी सारी इन बातों का मतलब क्या?

अब समय आ गाया है कि हम इस बहुप्रचारित पूर्वग्रह से मुक्ति पा लें कि भारत का धार्मिक इतिहास सच्चा इतिहास नहीं है बल्कि प्राकृतिक घटनाओं का अव्यवस्थित अम्बार भर है—जैसे कि भूगर्भ में चट्टानों की परतें। ठीक है कि हमने अपने अतीत का हर इतिवृत्त बाकायदा दर्ज करके उसे विषयकृत करने (ऑब्जेक्टिफाइ करने) की ज़रूरत बहुत नहीं समझी—उसे काल-क्रम में व्यविस्थत नहीं किया। किन्तु क्या इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि हमारे पुरखों में अपने अतीत की कोई चेतना नहीं थी—उस अतीत की जो उनके वर्तमान को निरन्तर संस्कार देता रहा? क्या वह अतीत स्वयं विगत की स्मृति और वरण-स्वातंत्र्य की ही रचना नहीं था? भला अब कौन यह कहने का दुस्साहस करेगा कि वैदिक मंत्र एक लड़ाकू कबीले की कारगुजारियों के इतिवृत्त और उद्गार भर हैं अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न ऋषियों की काव्यात्मक और अन्तर्दृष्टि से समृद्ध रचनाएं नहीं? भक्ति-आंदोलन भी आखिर यूं ही शून्य में से तो नहीं उपज गया था—वह भी तो एक ऐतिहासिक संकट के उत्तर में संकल्पपूर्वक किया गया ठोस सृजनात्मक पुरुषार्थ ही था : ऐसे लोगों का पुरुषार्थ जो एक सुदीर्घ धार्मिक-दार्शनिक परम्परा के अनूठे वाहक और पुनर्व्याख्याकार थे।

यह ठीक है कि अपने इतिहास की आधी-अधूरी जानकारी हमें अपने सांस्कृतिक प्रवाह के एक चरण से दूसरे चरण में संक्रमण का यथातथ विवरण सुलभ नहीं कराती, ख़ासकर वैदिक-युग से महाभारत-काल के संसार में संक्रमण की, जैसाकि हमने अपने आधुनिक कवि निराला के विचारों की संक्षिप्त चर्चा में भी लक्ष्य किया था। तो भी, इस अपूर्ण जानकारी के बूते भी हम इतना तो देख ही सकते हैं कि एक सुदृढ़ आंतरिक तर्क-संगति

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

हमारे देश के धार्मिक परिवर्तनों की तीन सहस्राब्दियों को नियंत्रित और अनुशासित करती रही है। इसे हम ऐतिहासिक न कहें तो क्या कहें ? यह अन्तःसंगति, यह तर्क, वैदिक युगों से ठेठ वर्तमान तक चला आ रहा यह अविच्छिन्न सूत्र और प्रवाह इतिहास नहीं तो और क्या है ? मानव-जीवन में दिव्यता के आयाम को हर कीमत पर बचाए, बनाए रखने की एकाग्र निष्ठा के सिवा इसे और क्या नाम दिया जा सकता है ? सब जानते हैं कि ऋग्वेद में आर्यों के अपना मूल स्थान छोड़ने और भारत पर आक्रमण करने का कहीं कोई उल्लेख नहीं है। पूछा जा सकता है कि यहूदियों की तरह उन्होंने उस ऐतिहासिक परिस्थिति का कहीं कोई संकेत अपने उस वाङ्मय में क्यों नहीं छोड़ा—जो उस परिस्थिति को उनका रचनात्मक प्रत्युत्तर था ?

मगर यह क्यों आवश्यक है कि परिस्थिति के सृजनात्मक उत्तर में उस परिस्थिति का इतिवृत्तात्मक बखान भी शामिल हो ही ? घटना और परिस्थिति तो स्थान और काल से बँधी होती है। तब फिर ऐसी आगंतुक चीज़ों को अमरता क्यों प्रदान कर दी जाय ? सत्य से ऐसे आगंतुक संयोगों का कोई अनिवार्य सम्बन्ध तो नहीं ही है। हां, अगर कोई अनुभव ऐसा था जिसका उन्होंने प्राणपन से उत्तर देने की कोशिश की तो वह अनुभव था—दि॰ता से द्रोह का, झूठ और कपट का, तमस् का। अब, ये दिव्यता-द्रोही परिस्थितियां किसी विशेष ऐतिहासिक क्षण से तो बँधी हुई होती नहीं। वैदिक कवि के लिए भी वे सदा उपस्थित संभावनाएँ ही हैं—नश्वर मानव को कभी भी, कहीं भी ग्रस ले सकने वाली। इसलिए इनके समक्ष वह अपने कवि–सुलभ अधिकार का प्रयोग करता है : उपलब्ध जीवन-स्थितियों के भीतर से ही एक ऐसी याज्ञिक-भाषा और अनुष्ठान का निर्माण करता है जो समस्त मानव-जाति के लिए दिव्यता का संस्पर्श सदा सुलभ बनाए रख सके। यही तो वैदिक मनुष्य की प्रार्थना है :

"....दिव्य से हमें जोड़े रखने वाले सूत्र कभी छिन्न न हों। ये पावन सूत्र, जिनसे हम अपने काव्य का रंगीन वितान बुनते हैं, सदैव अक्षुण्ण रहें। हम उन मार्गों से कभी विचलित न हों जो देवताओं और मनुष्यों के बीच खोले गए हैं। हम उस अविनश्वर के आतिथ्य-सत्कार में कभी प्रमाद न करें जो अतिथि बनकर इस नश्वर के घर में आया है...."

यही है वैदिक ऋषियों की सबसे बड़ी चिन्ता, और यही चिन्ता भारतीय धर्म-जीवन के प्रत्येक कालान्तर-चक्र में भी प्रकट हुई है। ऐतिसासिक संयोगों को यह दृष्टि कभी महत्त्व नहीं देती। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इसका कोई इतिहास नहीं। इतिहास तो है ही और वह इतिहास है भरपूर साझे के साक्षात्कार की बिरादरी का जिसे अपने मूल के उद्घाटन की स्मृति निरन्तर बनी रही, जो वर्तमान संकट के प्रति सदैव सजग-सावधान रही और उस अन्तर्ध्वनि के प्रति भी जो भविष्य का संकेत देती है।

3/2 प्रोफेसर्ज़ कोलोनी
भोपाल-462002

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

4

स्वतन्त्रा स्त्री

मुकुंद लाठ

अभी पिछले दिनों, इसी यूनिवर्सिटी में (राजस्थान यूनिवर्सिटी, जयपुर में) पुरुषार्थ पर एक गोष्ठी हुई थी। व्यक्ति और समाज के स्वरूप और साध्य को समग्र और व्यवस्थित रूप से समझने के लिए हमारे यहां पुरुषार्थ की धारणा पुरानी है। गोष्ठी की चर्चा में इस पुरानी धारणा की सार्थकता को आधुनिक प्रसंग में, मनुष्य और समाज से सम्बन्ध रखने वाले नये विचारों की दृष्टि से देखने-परखने की चेष्टा थी।

कई प्रश्न उठाए गए। पर एक प्रश्न नहीं उठा जिससे अपनी बात शुरू करना चाहता हू। पुरुषार्थ क्या पुरुष के लिए ही है या स्त्री के लिए भी ?

संस्कृत वैयाकरणों का कहना है कि कई शब्द ऐसे होते हैं जिनमें लिंग तो होता है पर उसकी विवक्षा नहीं होती। लिंग केवल भाषा-व्यवहार के आग्रह से ही रहता है। केवल शब्द में ही रहता है, अर्थ में, तात्पर्य में नहीं। "स्त्री" के लिए "कलत्र" शब्द भी होता है, जो नपुंसक लिंग है—कहना नहीं होगा कि "कलत्र" में लिंग अविवक्षित है : शब्द में है, अर्थ में नहीं है।

पुरुषार्थ पर हुई गोष्ठी में सब विद्वानों ने यह मान सा लिया था कि "पुरुषार्थ" शब्द में "पुरुष" का लिंग अविवक्षित है। ऐसा मान कर बात को आगे बढ़ाना आज की चर्चाओं में सहज है, उचित भी।

पर क्या प्राचीनकाल में यह सम्भव था ? जिस बात को मान लेना आज हमारे लिए सहज हो चला है क्या पुराने लोग भी उसे स्वीकार कर लेते ? या इसी सवाल को यों रख सकते हैं : क्या हमारी परम्परा में "पुरुषार्थ" का लिंग अविवक्षित रहा है ? उत्तर निषेध में ही देना पड़ेगा। लिंग की पूरी विवक्षा रही है। पुरुष को ही पुरुषार्थ का साधक माना गया है, स्त्री को नहीं। प्रमाण स्पष्ट हैं। पुरुषार्थ का साधक वही हो सकता है जो स्वतन्त्र हो। पर स्त्री की तो परिभाषा ही रही है : अस्वतन्त्रा स्त्री। बल्कि "पुरुषतन्त्रा स्त्री"। बचपन में पिता, फिर पति और उसके न रहने पर पुत्र स्त्री इनके तन्त्र में रहती है। जहां स्मृतियों का ऐसा विधान हो, "पुरुषार्थ" में "पुरुष" के लिंग को अविवक्षित कैसे कहा जा सकता है ?

स्मृति के विधान समाज की रूढ़ियों पर ही अक्सर औचित्य की मुहर लगाते हैं। हमारी संस्कृति में ही नहीं कई प्राचीन संस्कृतियों में स्त्री को पुरुषतन्त्रा माना

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

गया है। सभ्यता का पुराना संस्कार है। इसका कारण क्या है, इतिहास में इसके कुछ कुछ बीज ढूंढे जा सकते हैं। पर बात के मूल तक पहुँचने के लिए उत्प्रेक्षा और अटकल की दांव-पेच का ही सहारा लेना पड़ता है। इतिहास के साक्ष्य स्रोत के उस उत्स तक हमें नहीं पहुँचा सकते जहां संस्कार का जन्म हुआ।

पर संस्कार के औचित्य को सिद्ध करने के लिए समाज के विधि-विधान करने वालों ने और इन बातों पर चिन्तन मनन करने वालों ने कुछ "प्रमाण" भी दिए हैं। "स्वतन्त्र का अर्थ होता है "वह जो अपने बस में हो, अपनी ही व्यवस्था में स्थित हो" — अर्थात् जिसके संकल्प में बुद्धि और विवेक जागृत रहें। ये ही पुरुष को पुरुष बनाते हैं, तभी वह "स्वतन्त्र" कहलाता है। स्त्री में बुद्धि और विवेक का अभाव है। उसे "कामोपहता" कहा गया है : काम का जंजाल — या इन्द्रजाल — उसकी बुद्धि पर छाया रहता है। इसलिए वह अस्वतन्त्रा है। यही धारणा पश्चिम में अरस्तू जैसे 'स्वतन्त्र', विवेकशील चिंतकों में भी मिल जायेगी।

कहना नहीं होगा कि धारणा भ्रांत है, मिथ्या है। सचमुच अगर यह धारणा अनुभव और परीक्षा के आधार पर बनाई गई होती तो भ्रान्ति साफ दिख जाती। इसमें वह दोष है जिसे न्याय में चक्रक दोष कहते हैं : यह पहले ही मान कर चलती है कि स्त्री में बुद्धि-विवेक का अभाव है, फिर वहां बुद्धि-विवेक के लक्षण देखने से इनकार कर देती है। रूढ़ि बन कर धारणा में केवल चक्रक-दोष ही नहीं रहता, बात एक दुश्चक्र में बदल जाती है, चक्रक दोष में बदल जाती है। चक्रक दोष तो केवल युक्ति का, बात के कहने का, उक्ति मात्र का दोष है। पर इसको जब हमारे चिन्तन और जीवन की रूढ़ियों में उतार लिया जाता है तब यह एक ऐसा चक्रव्यूह बन जाता है जिसमें से हमारे लिए— और स्त्री के लिए भी—निकलना मुश्किल हो जाता है। स्त्री को अस्वतन्त्रा मान कर समाज उसको ऐसे बन्धनों, में डाल देता है कि उसमें वे ही लक्षण दिखने भी लगते हैं जिनके कारण उसे अस्वतन्त्रा ठहराया गया था।

ये सारी पुरानी बातें हैं। पर इनको दोहराने के पीछे मेरा एक तात्पर्य है। जो धारणा भ्रान्त हो, मिथ्या हो, उसका झूठ झलक ही जाता है। भारत के साहित्य और इतिहास में, और भारत में ही क्या, किसी भी संस्कृति के साहित्य और इतिहास में, कई स्वतन्त्रा स्त्रियां मिल जाएंगी और स्त्री में बुद्धि-विवेक के अनेक प्रमाण भी मिल जायेंगे। इनके अब कई संग्रह भी तैयार हो चुके हैं, यहां दोहराने की ज़रूरत नहीं।

पर मैं यहां इस भ्रान्त बोध का एक विशेष दृष्टांत देना चाहता हूं। विधि-विधान के उसी गढ़ से स्त्री के स्वतन्त्र होने का एक मार्मिक अभिलेख आपके सामने लाना चाहता हूं जिस गढ़ के हर परकोटे पर "अस्वतन्त्रा स्त्री" ही खुदा है।

बात का प्रारंभ राजा भोज से करता हूं। स्त्री के अस्वतन्त्रा होने की बात हमारे विधि-विधान के शास्त्रों में इतनी बार दुहराई गई है कि भोज के एक वाक्य ने उस दिन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

चौंका दिया। भोज़ ने कई ग्रन्थ लिखे हैं। साहित्य-शास्त्र में उनके ग्रन्थ जाने-माने हैं। रस के विषय में उनका यह मत भी प्रसिद्ध है कि रस नौ नहीं हैं, एक ही है, शृंगार। पर यह लोग कम जानते हैं कि उन्होंने इसी रस में एक कथा भी लिखी है : शृंगारमंजरी-कथा। कथा कुछ खंडित रूप में ही हम तक आ पाई है। पर इतनी भी खंडित नहीं है कि उसके रूप, रस की भंगिमा से, उसमें कही गई कहानी के कथानक से हम वंचित रह जाएं। उसमें एक विनोद का पुट है, एक खेल का सा भाव है जो आरंभ से ही कौतुक जगा देता है।

पर शृंगारमंजरी की समालोचना करना यहां हमारा उद्देश्य नहीं है। उस बात पर आता हूं जिसने मुझे चौंका दिया था। भोज ने ऐसी स्त्रियों की बात की है जिन्हें वे स्वतन्त्रा कहते हैं। कौन थी ये स्वतन्त्रा स्त्रियां ? ये गणिकाएं थीं। और भोज ने दूसरी स्त्रियों से, कुलवधुओं से अलग वर्ग में रखने के लिए ही इन्हें स्वतन्त्रा कहा है। शृंगारमंजरी कथा में गणिकाओं के बारे में ही कुछ कहानियां हैं, गणिकाओं को उपदेश देने के आशय से ही लिखी गई जान पड़ती हैं। "जान पड़ती हैं" इसलिए कह रहा हूं कि भोज ने लिखने का बहाना तो यही रखा है, फिर चाहे कहानी केवल कहने के लिए ही क्यों कही हो। अंतिम कहानी के बाद उपसंहार सा करने बैठते हुए भोज गणिकाओं के लिए "स्वतंत्र" विशेषण का प्रयोग करते हैं। स्पष्ट इंगित करते हैं कि यह एक बात है जो गणिका को कुलवधु से अलग करती है। मूल का उद्धरण देकर भोज के वाक्य पर टीका यहां नहीं करूंगा—इससे चर्चा कुछ फुटनोट का रूप ले सकती है और गौण बातों में उलझ जा सकती है। पर मूल के प्रति जिज्ञासु पाठक शृंगारमंजरी-कथा का सिंघी जैन ग्रन्थमाला वाला संस्करण देख सकते हैं : पृष्ठ 88। भोज का वाक्य पढ़कर मुझे जो जिज्ञासा हुई वह यह थी कि गणिकाओं को यों स्वतंत्रा कहने का तात्पर्य और आधार क्या था ? भोज ने पुरुष के समान ही गणिका को स्वतंत्र होने का अधिकार कैसे दे दिया ? एक प्रश्न प्रसंगवश और भी उठता है: संस्कृत में अपनी मनमानी करने वाली स्त्रियों के लिए "स्वैरिणी" शब्द अक्सर आता है। यह लांछना का शब्द है, प्रशंसा का नहीं। स्वैरिणी कुलटा होती है—बेलगाम। उसके आचरण की स्वच्छंदता उस विवेक से नहीं पनपती जिस विवेक में संकल्प धर्म के पथ पर ले जाता है। स्वैरिणी की स्वच्छंदता कामना और वासना द्वारा प्रेरित होती है। स्वैरिणी को उस अर्थ में स्वतंत्र नहीं कह सकते जिस अर्थ में पुरुष स्वतंत्र होता है, क्योंकि स्वैरिणी का आचरण वासना की विवशता का आचरण है, वह किसी के भी बस में, किसी के भी तन्त्र में नहीं रहता, स्वैरिणी के अपने तन्त्र में तो बिल्कुल भी नहीं। स्त्री के स्वैरिणी होने में पुरुष-तन्त्र समाज को स्त्री की स्वतंत्रता का कोई लक्षण नहीं दिखता था। बल्कि स्त्री के स्वैरिणी होने में उस समाज को इस बात का एक और प्रमाण दिखता था कि स्त्री को स्वतंत्र नहीं माना जा सकता। भोज को क्या यह नहीं चाहिए था कि गणिका को "स्वैरिणी" कहे ? तब फिर उसने उसे "स्वतंत्र" क्यों कहा ? किसी भ्रांतिवश तो नहीं ?

इस जिज्ञासा के बाद एक प्रश्न सहज था : भोज ने जो बात कही है उसका धर्मशास्त्र में भी कोई समर्थन है या नहीं ? इन बातों के विधि-विधान में प्रमाण तो वे ही

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

हैं। भोज के एक उड़ते हुए वाक्य को, और वह भी ऐसा वाक्य जो कथा–कहानी में आया है, प्रमाण की कोटि में कैसे रखा जा सकता है ? धर्म की गंभीर बातों में किस्से–कहानियों की क्या औकात ? फिर भोज की कथा है ही गणिकाओं के बारे में। वहां उनकी महिमा को बढ़ाने-चढ़ाने के लिए उन्हें 'स्वतन्त्रा' कह भी दिया हो तो इसमें क्या बड़ी बात है ? यह भी हो सकता है कि स्वैरिणी लिखते-लिखते कलम थोड़ी रस के आवेश में बहक गई हो। और सभी जानते हैं कि रस जगाने के लिए सच से बड़ा अक्सर झूठ होता है। एक बात और भी है : अर्थवाद की परम्परा भी हमारे यहां पुरानी है। अर्थवाद कहते ही ऐसी बात को हैं जो महिमा–गान करने के लिए सच और झूठ में विवेक न करे।

गणिकाओं पर संस्कृत में बहुत कुछ लिखा गया है। गणिकाओं ने स्वयं भी साहित्य की रचना की है—मनोविज्ञान का एक विशेष सिद्धांत, राग सिद्धांत, उन्हीं के चिंतन का फल है। इसकी बानगी हम आगे देखेंगे। वे अक्सर पढ़ी-लिखी होती थीं, संस्कृत भी जानती थीं, जब कि कुलवधुओं के लिए ऐसे ज्ञान का अभाव ही अधिक शालीन माना जाता था।

पर धर्मशास्त्र में गणिकाओं पर कम ही लिखा गया है। और वहां उनके स्वतन्त्र होने की बात का कोई स्पष्ट उल्लेख मुझे नहीं मिला। लेकिन एक जगह चर्चा मिल ही गई और अच्छे विस्तार से मिली। इस चर्चा में कई संकेत मिले जो हमारी जिज्ञासा पर प्रकाश डालते हैं। चर्चा किसी स्मृति में तो नहीं पर उतनी ही प्रामाणिक एक टीका में है : याज्ञवल्क्य स्मृति पर लिखी गई विज्ञानेश्वर की जानी-मानी मिताक्षरा टीका। परम्परा में मिताक्षरा का स्थान ऊंचा रहा है। यह टीका 10वीं सदी में लिखी गई थी।

मिताक्षरा में युक्ति और शास्त्र-प्रमाण के आधार पर गणिकाओं की स्वतन्त्रता का एक प्रसंग-विशेष में स्पष्ट संकेत है। यहां विज्ञानेश्वर के कथन को हम कुछ फैलाकर देखेंगे। बात इन स्वतन्त्रा स्त्रियों को समझने में उपयोगी होगी। विज्ञानेश्वर ने कण्ठतः गणिकाओं को स्वतन्त्रा नहीं कहा है, पर अभिप्राय वही है। यह भी हम देखेंगे।

याज्ञवल्क्य स्मृति का एक बिधान है :

कोई पुरुष अगर अवरुद्धा, दासी या भुजिष्या जैसी स्त्रियों से (सहवास करे) तो उसे पचास पण दण्ड दिया जाए, बावजूद इसके कि ये स्त्रियां गम्या हैं (जिनसे कोई भी सहवास कर सकता है)।[1]

आगे बढ़ने से पहले यहां यह समझ लेना चाहिए कि "गम्या" यहां उन स्त्रियों को कहा गया है जिनसे विवाह के बिना भी कोई गमन कर सकता है। पर अवरुद्धा, दासी और भुजिष्या ऐसी स्त्रियां हैं जो गम्या होते हुए भी किसी पुरुष की रक्खी हुई हैं, उनकी

---

1. अवरुद्धासु दासीषु भुजिष्यासु तथैव च।
गम्यास्वपि पुमान्दण्ड्यः पंचाशत्पणिकं दयम् ॥
याज्ञवल्कय स्मृति, व्यवहाराध्याय, 290 (निर्णय सागर संस्करण)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

चाकरी में हैं या पालिता हैं, इसलिए गम्या होते हुए भी औरों के लिए अगम्या हैं। तभी उनसे गमन पर दण्ड का विधान है।

ऐसे विधान और जगह भी मिल जायेंगे। ये कई स्मृतियों में दुहराए गए हैं। ऊपर गम्या की कोटि में तीन प्रकार की स्त्रियां ही गिनाई गई हैं। विज्ञानेश्वर नारद स्मृति का भी उद्धरण देते हैं। वहां गम्या की कोटि में स्वैरिणी भी आती है। स्वैरिणी का मनुसंहिता ने लक्षण भी दिया है: स्वैरिणी उस स्त्री को कहते हैं जो पति को छोड़ कर कामतः— अपनी इच्छा से या वासना से—किसी और अपने ही वर्ण के पुरुष का आश्रय ले ले। स्वैरिणी का यह अर्थ संकुचित सा लगता है। अन्यत्र उसमें ध्वनि व्यापक होती है: ऐसी स्त्री जो कामतः पर-पुरुष की हो जाए। नारद ने स्वैरिणी के साथ वेश्या (गणिका) को भी "गम्या" की कोटि में रखा है।

गम्या कौन है?—इस प्रश्न पर विज्ञानेश्वर की टीका बरबस ध्यान खींच लेती है। विज्ञानेश्वर एक मूलभूत प्रश्न उठाते हैं: क्या कोई स्त्री सचमुच गम्या हो भी सकती है? क्या वर्ण-व्यवस्था और उसके आधारभूत शास्त्र के विधान में ऐसी स्त्री की कल्पना की जा सकती है जो गम्या कहला सके? उस अर्थ में गम्या जिस अर्थ में याज्ञवल्क्य उसे गम्या कह रहे हैं!

गम्या का अर्थ हमने ऊपर देखा: "ऐसी स्त्री जिससे बिना विवाह के गमन का पुरुष को अधिकार हो"। पर बात केवल पुरुष के अधिकार से पूरी नहीं बनती। शास्त्रतः बात तभी बन सकती है जब स्त्री भी ऐसी हो जिसे किसी भी पुरुष से गमन का अधिकार दिया गया हो, ऐसा करने पर उसका धर्म भंग न हो। ऐसी स्त्री को विज्ञानेश्वर "साधारण स्त्री" कहते हैं और तर्क देते हुए सिद्ध करते हैं कि वर्णव्यवस्था के अन्दर ऐसी स्त्री का होना संभव ही नहीं जो सचमुच साधारण स्त्री हो। युक्ति देते हुए कहते हैं: पति के जीते जी, और उसके मर जाने पर भी, किसी भी अवस्था में कोई सवर्ण स्त्री अन्य पुरुष-गमन नहीं कर सकती, ऐसा मनु का विधान है। न कन्या-अवस्था में कोई स्त्री "साधारण" हो सकती है, क्योंकि पिता द्वारा कौमार्य की रक्षा करते हुए ही कन्यादान का विधान है। अगर दान न किया जाए तो स्वयंवर का विधान भी कुमारी कन्या पर ही लागू होता है। यही शास्त्र का आदेश है। किसी स्त्री को अगर किसी की दासी होना पड़े तो इसका अर्थ यह नहीं कि वह स्वधर्म से, वर्ण-धर्म से, च्युत हो जाती है। शास्त्र में ऐसी कोई संभावना नहीं है। दासी होने का अर्थ है एक विशेष रूप में परतंत्र होना, अपने स्वधर्म का परित्याग नहीं—शिष्य भी तो गुरु के परतंत्र होते हैं, पर इससे वे स्वधर्म से अलग नहीं हो जाते।

विज्ञानेश्वर आगे कहते हैं कि किसी भी स्त्री को, यहां तक कि गणिका को भी, हम "साधारण" नहीं कह सकते। (आगे वे अपनी इसी बात को काटते हैं और गणिका को ही "साधारण स्त्री" ठहराते हैं, पर यहां उनकी युक्ति देखिए)। वे कहते हैं: 'किसी पुरुष के लिए किसी स्त्री के गम्या होने की पहली शर्त यह है कि स्त्री ऐसे वर्ण की हो जो अनुलोम वर्णों में आता है। प्रतिलोम वर्ण की स्त्री तो गम्या की कोटि में आ ही नहीं सकती। पर अनुलोम वर्ण की स्त्री भी गम्या इसी अर्थ में हो सकती है कि पुरुष उसके साथ

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

विवाह कर सकता है, इस अर्थ में नहीं कि वह "साधारण" हो, बिना विवाह के गम्या हो। बिना विवाह के गम्या तो वर्णव्यवस्था में कोई भी स्त्री नहीं हो सकती—जैसा हम ऊपर देख आए हैं।"

वर्ण-व्यवस्था में चार वर्णों के सिवा दूसरे वर्ण—जिन्हें संकर-वर्ण कहा जाता है—और इन वर्णों की जातियां केवल अनुलोम और प्रतिलोम सम्बन्ध से ही बन सकती हैं। पर दोनों ही प्रकार के सम्बन्धों में ऐसी स्त्री का होना सम्भव नहीं जो गम्या भी हो और साधारण भी। प्रश्न उठ सकता है कि फिर याज्ञवल्क्य ने—और अन्य स्मृतिकारों ने भी—भुजिष्या, दासी, स्वैरिणी आदि स्त्री विशेष को बिना विवाह के भी गम्या क्यों कहा है?

उत्तर में विज्ञानेश्वर कहते हैं कि ऐसी स्त्रियों को गम्या कहना एक वाचोयुक्ति मात्र है—बस एक कहने की बात है। एक अपेक्षा मात्र की दृष्टि से उन्हें गम्या कह दिया गया है, इसलिए कि इन स्त्रियों से गमन करने में स्त्री और पुरुष को राज-दण्ड आड़े नहीं आता। व्यवहार में—समाज में और कानून में—इन्हें गम्या मान लिया गया है क्योंकि इनसे गमन का चलन है। पर शास्त्र की दृष्टि से इन्हें सचमुच गम्या नहीं माना जा सकता। इस बात का प्रमाण यही है कि जिन्हें गम्या कहा गया है उनसे गमन करने पर गमन करने वाले और गम्या दोनों के लिए ही प्रायश्चित्त का विधान है।

वास्तव में बिना विधिवत् विवाह के गम्या तो वही स्त्री हो सकती है जो साधारण स्त्री हो। और स्पष्ट है कि चतुर्वर्णव्यवस्था में किसी स्त्री के सही अर्थ में साधारण होने की कोई सम्भावना नहीं है। सच पूछिए तो स्त्री या पुरुष किसी के भी इस व्यवस्था में साधारण होने का कोई रास्ता नहीं निकलता।

यह सब कहते हुए भी विज्ञानेश्वर कहते हैं कि इन बातों का यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि साधारण स्त्री होती ही नहीं। साधारण स्त्री होती है और वह है गणिका/गणिका को साधारण होने का अधिकार है—साधारण होना उसका स्वधर्म है। वह किसी भी पुरुष के साथ गमन कर सकती है, इसमें उसे दोष नहीं लगता। कोई भी पुरुष उसके लिए गम्य है और उससे गमन में उसे न इहलोक के दण्ड का भय है न परलोक के लिए प्रायश्चित्त की आवश्यकता।

प्रश्न उठना सहज है कि जब शास्त्र की व्यवस्था में साधारण स्त्री सम्भव ही नहीं तब गणिका के लिए कहां से द्वार बन गया? विज्ञानेश्वर का उत्तर है कि शास्त्र के प्रसिद्ध चार वर्णों में और उनके सम्बन्ध-विधान में तो साधारण स्त्री सचमुच सम्भव नहीं, पर वे कहते हैं कि, एक पांचवां वर्ण भी है और वही वर्ण गणिका का वर्ण है। दूसरे वर्णों की तरह यह भी अनादि है। यह स्त्रीप्रधान है और इसमें स्त्री का स्वधर्म है कि वह साधारण हो।

प्रमाण क्या? प्रमाण के लिए वे कहते हैं कि इसमें लोक प्रमाण है, लोक में ऐसी ही मान्यता है। पर लोक-प्रमाण से शास्त्री का जी नहीं मानता, पूरी बात उसके लिए नहीं बनती। इसलिए उन्होंने एक शास्त्र-प्रमाण भी ढूँढ निकाला था, स्कन्द पुराण का एक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

आप्तवचन है कि गणिकाएं पंचचूडा नाम की अप्सराओं की सन्तति हैं और वे दूसरे वर्णों में नहीं आतीं, उनकी जाति पांचवीं है (यहां जाति शब्द वर्ण के ही अर्थ में आया है वरना पांचवीं कहने का कोई तात्पर्य ही नहीं रहता)।[2]

स्कन्द पुराण के सिवा भी अन्यत्र ऐसा कोई विधान है या नहीं, कह नहीं सकता। कहा जाता है कि महाभारत में है। पर मूल में तो क्या संशोधित संस्करण के प्रक्षेपों में भी वह मुझे नहीं मिला। यों भी ऐसी विधियों का सचमुच विधान होना संदिग्ध और विचार्य ही माना जायेगा। काम-सूत्र में भी गणिका के बारे में ऐसी सी ही बात कही गई है। गणिका-प्रकरण का पहला ही सूत्र है: "वेश्याओं की पुरुष को स्वीकार करने की इच्छा और वृत्ति सर्ग से होती है।" यहां "वृत्ति सर्ग से होती है" का एक अर्थ हो सकता: "प्रवृत्ति स्वाभाविक निसर्ग से: होती है।" पर अर्थ यह भी हो सकता है कि—"जीविका सृष्टि के आरम्भ से है।" दूसरे अर्थ में अभिप्राय वही है जो विज्ञानेश्वर का है। पर स्कन्दपुराण के वचन को तो शायद विधान में रखने की सोच भी सकते हैं। कामसूत्र का वचन इस कोटि में नहीं आ सकता।

विज्ञानेश्वर की चर्चा कई तरह के प्रश्न और कुतूहल जगाती है: एक प्रश्न तो यही उठता है कि माना वर्ण-व्यवस्था ने वर्ण चार ही माने हैं पर अगर पांचवां भी मान लिया जाए तो यह कैसे सिद्ध होगा कि उस पांचवें वर्ण की व्यवस्था ही भिन्न होगी, दूसरे वर्णों को बांधता हुआ जो विधानों का व्यूह है उससे वह पांचवां वर्ण कैसे मुक्त होगा, उसका अपना अलग ही विधान कैसे होगा? पांचवें वर्ण की बात अन्यत्र भी मिल जाती है। प्राचीन समय में निषाद और रथकार को चार वर्णों से अलग वर्ण कहा जाता था, यों भी चार वर्णों की व्यवस्था समाज के विविध विभाजनों को समेटने में सक्षम नहीं थी। तभी वर्णों के सिवा कई संकर वर्ण भी माने गए थे। रथकार और निषाद जैसे पंचम वर्ण इन्हीं संकरों के उदर में समा गए। पते की बात तो यह है कि शुद्ध वर्ण हो या संकर वर्ण धर्मशास्त्र सबको एक विशेष सूत्र में बांधता है। उसके विधानों में एक दृष्टि है जो सारे समाज पर पूरी उतरती है, कोई वर्ण हो, कितने ही वर्ण हों। उस दृष्टि का एक मूल सूत्र है कि स्त्री साधारण नहीं होती, किसी भी वर्ण की-या वर्ण-संकर की-क्यों न हो। फिर यह गणिका कहां से निकल आई? यह केवल चार वर्णों और उनके संकर उपवर्णों से ही अलग नहीं उस पूरी व्यवस्था में ही बेमेल हैं जो वर्ण-व्यवस्था के रूप में विहित की गई हैं। बेमेल इसलिए कह रहा हूं क्योंकि थोड़ा सा भी हम विचार करें तो पायेंगे कि गणिका की स्वीकृति इस बात की भी स्वीकृति है कि वह स्वतंत्रा है।

यहां दो बातों पर ध्यान दीजिए। एक तो यह कि गणिका का साधारण होना उसका स्वधर्म कहा गया है—अर्थात् किसी भी पुरुष से स्वेच्छया गमन करने पर वह अन्य

---

2. स्मर्यते हि स्कन्दपुराणे—पंचचूड़ा नाम काश्चनाप्सरसः, तत्सन्ततिर्वेश्या पंचमी जातिः, इति। याज्ञवल्क्य, व्यवहाराध्याय, 290 पर विज्ञानेश्वर।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सवर्ण स्त्रियों के समान स्वैरिणी नहीं हो जाती। यह तो उसका धर्म ही है। धर्म का आचरण स्वैराचार नहीं होता। उसमें विवेक ऊह्य रहता है, वासना की बेबसी या मनमानापन नहीं। गणिका के सहवास से स्वैराचार अगर किसी का होता है तो पुरुष का होता है; स्त्री का नहीं। इसीलिए विज्ञानेश्वर कहते हैं कि जो पुरुष गणिका से सम्बन्ध रखता है उसका इहलोक में तो कोई अपराध नहीं होता–राजदण्ड का कोई डर नहीं रहता—पर उसका परलोक बिगड़ता ही है। क्योंकि पुरुष के लिए शास्त्र का विधान है "स्वदारनिरतः सदा"-वह अपनी ही दारा में निरत रहे। गणिका किसी की दारा नहीं होती: दूसरी बात यह है कि गणिका वर्ण में पुरुष नहीं स्त्री-प्रधान होती थी। स्त्रियों की ही सन्तति चलती थी, तन्त्र भी स्त्रियों के ही हाथ रहता था। दूसरे शब्दों में गणिका वर्ण स्त्रीतंत्र समाज था।

इन दो बातों से प्रकट है कि अन्य वर्ण के पुरुष की तरह ही गणिका स्वतंत्र थी। भोज ने उसे स्वतन्त्रा कहा तो ठीक ही कहा। उनकी कथा में शब्द केवल साहित्य की अतिरंजना में अलंकार बन कर नहीं आया है। वस्तुस्थिति का भी द्योतक है।

ऊपर के विमर्श से स्पष्ट है कि समाज में यह बोध स्पष्ट था कि स्त्री को पुरुष की तरह ही स्वतन्त्रा नहीं मानना एक भ्रांति ही है। स्त्रियों के पूरे एक वर्ग को स्वतन्त्रा मान लेना इस भ्रांति-बोध का ही प्रमाण है। यह बोध लोक में ही नहीं विज्ञानेश्वर जैसे समाजशास्त्रियों में भी था (हालांकि उन दिनों इनको समाजशास्त्री नहीं धर्मशास्त्री कहा जाता था।) पर लोक इस बोध के प्रति सचेतन होते हुए भी इसकी ओर से आंख मूंद लेना चाहता था, जानते हुए भी नहीं जानना चाहता था। यह प्रवृत्ति कुछ विचित्र नहीं है। आज भी इसका बोलबाला है ही। विज्ञानेश्वर इस बोध के प्रति अधिक जागरूक थे। पर वे भी इससे स्पष्ट निकलने वाले विस्फोटक क्रांतिकारी सिद्धांत को मान्यता नहीं देना चाहते थे कि गणिका को स्वतंत्र मानने पर स्त्री-मात्र को स्वतन्त्र मानना आवश्यक हो जाता है, नहीं मानने में असंगति ही है। एक पूरे समुदाय की स्त्री स्वतन्त्र हो सकती है तो स्त्री-मात्र क्यों नहीं? पर ऐसी मान्यता को वे प्रश्रय नहीं दे सकते थे, कोई धर्मशास्त्री नहीं दे सकता था। उस युग में संभव नहीं था।

विज्ञानेश्वर की सारी चर्चा भारत की समाज-व्यवस्था, धर्मशास्त्र, इनके सम्बन्ध और इनकी समझ के बारे में कई तरह के नए प्रश्न जगाती है। पाठक के मन में भी प्रश्न सिर उठाने ही लगे होंगे। मैं ऐसे प्रश्नों में यहां नहीं जाऊंगा। इससे मुझे बात के बिखरने का डर है। अपने-आप को मर्यादा में रखूंगा क्योंकि आगे बात गणिकाओं की ही करना चाहता हूं। पर एक प्रश्न प्रसंगवश ही उठता है: माना कि विज्ञानेश्वर ने गणिका को धर्मशास्त्र-व्यवस्था के भीतर स्वीकृति दी, पर यह कैसी स्वीकृति है? सचमुच स्वीकृति है भी क्या?

मैं समझता हूं कि विज्ञानेश्वर का अभिप्राय–जिसे आज के समाज-शास्त्री कहेंगे उसकी अभिसंधि–क्या थी इस पर विचार करना यहां प्रासंगिक हो सकता है। इससे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

गणिका की पहचान क्या थी और उस समाज में क्या स्थान था, इन बातों पर प्रकाश पड़ सकता है। जिस समाज में विज्ञानेश्वर थे उसमें गणिका की स्वीकृति स्पष्ट थी। वे स्वयं ही कहते हैं कि जैसे ब्राह्मण एक अलग वर्ण है जिसका गुणकर्म ब्राह्मण्य है, वैसे ही लोक में यह भी प्रतिष्ठित है कि गणिका भी एक अलग वर्ण है जिसमें स्त्रियों का गुणकर्म पुरुष-संभोग से जीविका चलाना है। इसी प्रसिद्धि को शास्त्र का आधार देने के लिए वे स्कन्द पुराण से एक उद्धरण उठाकर लाए थे। लोक ही नहीं राजतंत्र भी गणिका को मान्यता देता था। और गणिका की स्वतंत्रता का यह एक बड़ा आधार था। यह स्थिति काव्य, कथा, नाटक आदि साहित्य से साफ उभर कर सामने आती है।

तो गणिका के होने से इन्कार नहीं किया जा सकता था और न उसके स्वतंत्र होने से इन्कार किया जा सकता था। पर धर्मशास्त्री के लिए यहां समस्या हो सकती थी कि गणिका को शास्त्र की परिधि में कैसे लाए? इस स्वतंत्रता को स्वीकृति कैसे दे और कैसी स्वीकृति दे जिससे गणिका को स्वतंत्र मानते हुए भी स्त्री-मात्र को स्वतंत्र न मानना पड़ जाये। अक्सर धर्मशास्त्रियों ने तो समस्या की ओर ध्यान ही नहीं दिया। वे चुप रहकर लोक की बात लोक पर ही छोड़ देते हैं। शास्त्र में इस सिद्धांत और मनोभाव की पुष्टि भी है कि लोक कई बातों में अपनी व्यवस्था आप कर सकता है। पर एक बड़ी शर्त है: व्यवस्था शास्त्र के विरुद्ध नहीं होनी चाहिए। पर बात कब शास्त्र के विरुद्ध हो जाती है, यह भी एक समस्या है। क्या गणिका जैसी स्वतन्त्रा स्त्री की लोक में स्वीकृति शास्त्र-विरुद्ध नहीं थी?

विज्ञानेश्वर ही एक ऐसे धर्मशास्त्री थे जिन्होंने इस समस्या को देखा, और देखा ही नहीं उसकी गहराई को भी समझा। पर विज्ञानेश्वर जब समस्या के प्रति जागरूक हुए तो इसका समाधान करना भी उनका कर्त्तव्य बन गया। ऐसा समाधान जो गणिका को स्वतंत्रता दे पर स्त्री-मात्र को स्वतन्त्र न बना दे और जो शास्त्र-सम्मत होने का दावा भी कर सके। आपके-हमारे जैसे आज के चिन्तकों की तरह धर्मशास्त्री केवल प्रश्न उठा कर त्रिशंकु की तरह आकाश में लटकता तो नहीं छोड़ सकता। (वैसे यहां एक और बात जोड़ दूं: गुप्त युग के एक कवि ने भी इस समस्या को अपनी तरह से देखा था और एक मूलभूत प्रश्न उठा कर बात वहीं छोड़ दी थी—लेकिन उसकी बात और कभी)

विज्ञानेश्वर का समाधान शास्त्र-सम्मत है भी या नहीं यह दूसरी बात है, पर उनका प्रयास इसी दिशा में है। उसमें एक दोहरेपन का पैंतरा है। पर इसके सिवा चारा नहीं था। विरोध को रखते हुए विरोध को और कैसे मिटाते? उन्होंने गणिका को स्वतंत्र ठहराने के लिए उसे अलग वर्ण में रख दिया पर उनका स्वतंत्र गणिका वर्ण ऐसा है कि धर्मशास्त्र की योजना में ठीक समा ही नहीं सकता। विज्ञानेश्वर भी इस बात को जानते थे। हम लोग आज अक्सर भूल जाते हैं कि धर्मशास्त्र की दृष्टि में चतुर्वर्ण-व्यवस्था केवल भारतीय समाज की व्यवस्था नहीं, मानव मात्र की व्यवस्था है। विज्ञानेश्वर इससे अवगत थे। इस व्यवस्था में नया वर्ण, वर्णसंकर की अनुलोम-प्रतिलोम प्रक्रिया से ही सम्भव था। फिर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इस प्रक्रिया से बाहर गणिका जैसा स्वतंत्र वर्ण कहां से आ गया? विज्ञानेश्वर जानते थे कि शास्त्र में इसकी सम्भावना बन नहीं सकती। समस्या को वे पूर्वपक्ष के रूप में रखते हैं। पूर्वपक्ष का तर्क यों प्रस्तुत करते हैं :—

"वेश्या: वर्णानुलोमाद्यन्तः पातिन्यः मनुष्यजात्याश्रयत्वात् ब्राह्मणादिवत्"—गणिका (चार) वर्णों के अनुलोम–प्रतिलोम के भीतर ही हैं क्योंकि वे भी मनुष्य-जाति की ही हैं जैसे ब्राह्मण आदि। इस (दूसरे मनुष्य) इस तर्क का आशय यह है कि शास्त्र के अनुसार मनुष्य मात्र चतुर्वर्ण और उसकी अनुलोम–प्रतिलोम व्यवस्था के अन्तर्गत आते हैं, फिर यह गणिका जैसा पांचवां वर्ण कहां से आया?

इसके उत्तर में विज्ञानेश्वर पहली युक्ति यह देते हैं कि गणिका का भिन्न स्वतन्त्र वर्ण लोक में ही स्वीकृत है। पर वे जानते थे कि यह स्वीकृति शास्त्र के लिये पर्याप्त नहीं हो सकती। इसलिए बात को शास्त्र का आधार देने के लिए ही स्कन्द पुराण का श्लोक ढूंढ कर लाते हैं। यही उनका समाधान है। पर यह समाधान कोई संगत समाधान नहीं है। इसमें पूर्वपक्ष की उठाई गई मूलभूत आपत्ति का कोई समीचीन उत्तर नहीं है। धर्मशास्त्र की चतुर्वर्ण-व्यवस्था, समाज में कितने वर्ण हैं, कैसे उत्पन्न होते हैं, इसका विवरण देने की ही व्यवस्था थी, साथ ही समाज-व्यवस्था के औचित्य की भी योजना थी। विज्ञानेश्वर जानते थे कि इस व्यवस्था में और इस औचित्य-योजना में गणिका का स्थान नहीं हो सकता। इसके लिए व्यवस्था का ही आधार बदलना पड़ता। पर धर्मशास्त्री क्रांतिकारी स्मृतिकार नहीं हो सकता था और नए स्मृतिकार तो सम्भव ही नहीं थे। विज्ञानेश्वर ने वही किया जो उनके बस में था। इसके लिये वे हमारी प्रशंसा के पात्र हैं। वे गणिका को शास्त्रीय व्यवस्था के भीतर तो नहीं ला सकते थे पर उसकी चौखट पर तो किसी तरह ले ही आए।

मैं समझता हूं कि उनका अभिप्राय भी इससे अधिक नहीं था। लोक-मानस में गणिका की स्थिति उचित-अनुचित के बीच की ही सँकरी गलियों में थी। उसकी इज्ज़त थी, आबरू नहीं। विज्ञानेश्वर ने जो प्रयास किया है वह यही है कि ऐसी स्थिति उसे शास्त्र में भी मिल जाए। इससे ज़्यादा शायद वे भी नहीं चाहते थे। वे चाहते थे कि गणिका को उसकी स्वतन्त्रता का शास्त्र में आधार भी मिल जाए पर स्त्री-मात्र की स्वतन्त्रता का प्रश्न न उठे। विधान में आंतरिक विरोध जगाने से वे बच नहीं सकते थे पर वे चाहते थे कि विरोध इस तरह से उठे कि सामने न आए। इसलिए उन्होंने गणिका को एक सर्वथा भिन्न वर्ण माना, ऐसा वर्ण जो कि दूसरे वर्णों से अनादिकाल से भिन्न था। विज्ञानेश्वर जानते थे कि ऐसा मान लेने पर शास्त्र की रीति से बात बन सकती है। शास्त्र में यह स्वीकृत था कि सब वर्ण अनादि हैं। और उनके गुण-कर्म भी अनादि हैं। एक वर्ण के गुण-कर्म से दूसरे वर्ण के गुण-कर्म के बारे में कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता : गणिका अगर स्वतंत्रा है तो इससे यह नहीं निकलता कि अन्य वर्ण की स्त्रियां भी स्वतंत्र हो सकती हैं। इस मान्यता पर हम आज आपत्ति उठा सकते हैं पर तत्कालीन समाज में इस मान्यता की जड़ें इतनी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

गहरी थीं कि इसे अटल सत्य माना जाता था। गणिका को अलग वर्ण देकर समाज और समाजशास्त्री एक और गहरी विडम्बना की बात छिपाना चाहते थे। स्त्री को कामोपहृता कहा गया था। तभी वह स्वतंत्रा नहीं हो सकती थी। पर हम पाते क्या हैं? हम पाते हैं कि गणिका की स्वतंत्रता का आधार ही यह था कि वह काम से स्वयं उपहृत हुए बिना पुरुष को काम से उपहृत कर सके। यही उसकी जीविका की कुंजी थी, उसके स्वतंत्र बने रहने का आधार था : काल को साधन बनाकर अर्थ का आहरण करना और उसके बल पर समाज में अपना स्थान बनाए रखना।

गणिका – समाज में इस बात का गहरा बोध भी था कि काम उसके लिये एक उपाय-स्वरूप है, अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखने का साधन। गणिका-समाज से सम्बद्ध संस्कृत में जो साहित्य मिलता है उस साहित्य का एक बड़ा लक्ष्य यही है कि वह गणिका को यह उपदेश दे कि वह कैसे काम को उपाय बनाकर जीविका अर्जन करे और अपनी स्थिति बनाये रख सके। जो साहित्य आज मिलता है वह पुरुषों का ही लिखा हुआ है–इसलिए उसमें इस उद्देश्य की भी छाया है कि पुरुष जान लें कि गणिका कैसे उनका आखेट किया करती है और यह जानकर उसके फंदे में न पड़ें। पर यह एक मुलम्मा ही है। इस साहित्य के लेखक गणिका-मित्र भी थे। उसके जीवन को और उसके बोध-जगत् को भीतर से समझते थे।

गणिका के बोध-जगत् में एक बात मूलमंत्र की तरह घुट्टी में ही डाल दी जाती थी। गणिका का शत्रु काम नहीं होता है, प्रेम होता है। काम तो उसका मित्र है, उसका सहायक। गणिका प्रेम में पड़ जाय तो पुरुष के बस में हो जायेगी, पर काम को तो उपाय बनाकर वह पुरुष को ही बस में करती थी। यही उसके लिए अर्थ की प्राप्ति का और स्वतंत्र बने रहने का एकमात्र साधन था। धर्मशास्त्र की दृष्टि से दूसरे वर्णों के लिए भी जीविका-अर्जन के विशेष विहित उपाय और आदर्श थे। पर ये आदर्श व्यवहार में आदर्श के धरातल पर ही रहते थे। धर्मशास्त्र भी इस बात से अवगत थे और आदर्श का गुण-गान करते हुए भी यथार्थ की परिस्थितियों को देखते हुए उन्होंने काफी विकल्प दे रखे थे, काफी छूट दे रखी थी। एक वर्ण के लोग दूसरे वर्ण की जीविका अपना सकते थे। आपद्-धर्म के बहाने, आदर्श के बहुत आदर्शवत् होने के बहाने। पर गणिका धर्मशास्त्र की मर्यादा के बाहर ही थी। दूसरे वर्णों की तरह उसके लिए समाज के अन्य अर्जन के साधनों का रास्ता नहीं खुला था। उसकी स्वतंत्रता की भित्ति वर्ण-पुरुषों को काम के बस कर के ही बनी रह सकती थी। उसके लिए और कोई गति नहीं थी। इसलिए काम को जीविका का उपाय बनाना गणिका के लिये एक बड़ा विकल्प और साधना थी। साथ ही प्रेम के मोहपाश से बचना उसका एक चरम लक्ष्य था। वह एक तरह से खांडे की धार पर चलना था। इससे गणिका के हृदय में अन्तर्संघर्ष का जन्म लेना स्वाभाविक था। संस्कृत-साहित्य हमें गणिका-जीवन में निरन्तर होने वाले प्रेम और काम के अन्तर्घात के कई चित्र देता है। कइयों से हम परिचित हैं। पर दो एक दृष्टांत मैं भी देता हूं। एक दृष्टांत दंडिन् के दशकुमार चरितम् से लीजिए। यह सातवीं सदी का ग्रन्थ है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

दशकुमाचरितम् कहानियों का संग्रह है। कहानियों को एक-सूत्र में बांधा तो गया है पर जिस धागे से बांधा गया है वह बहुत ही कमज़ोर है। कहानियां हिम्मत, धोखाधड़ी और चतुराई से अपना उल्लू गांठने की, और साथ ही बदमाश को सबक सिखाने विषयक हैं। इनमें साहस को भाग्य का सहाय भी यथासमय मिल ही जाता है, जैसे हिन्दी फिल्मों में, और हिन्दी फिल्मों की तरह ही इन कहानियों में भी थोथी भावना की चाशनी में लिपटे आदर्शवाद के साथ "सब साले चोर हैं, शेख़ अपनी-अपनी देख" वाले घोर स्वार्थवाद का अजीब मेल भी है। भाषा का वैभव और प्रवाह ही कहानियों का प्राण है। फिर भी जगह-जगह तत्कालीन जीवन के, विशेषकर नगर-जीवन के निचले स्तरों के चित्र कहानियों को सजीव बनाते चलते हैं।

एक कहानी में दो गणिकाओं का चित्र है, दोनों बहनें हैं: काममंजरी और रागमंजरी। ये नाम उनके चरित्र का संकेत भी देते हैं। काममंजरी "काम-से-अर्थ" वाले मंत्र में विश्वास करती है। उसे कई गुणों की शिक्षा दी गई है। उन गुणों का प्रयोग वह धनाढ्य युवकों का हृदय जीत कर उन्हें निर्धन बना देने में ही करती है। उसको अपने पर इतना भरोसा है कि एक शर्त जीतने के लिए वैराग्य का बड़ा कुशल नाटक करती है, बस इस इरादे से कि एक प्रसिद्ध सन्यासी को काम के बस करके भरे बाज़ार ला खड़ा कर दे। रागमंजरी का प्रण बिल्कुल उल्टा है। उसने प्रण किया है कि जो युवा अपने रूप-गुण से उसका मन जीत लेगा उस एक से ही विवाह करके उसकी हो रहेगी: "गुणशुल्काहं न धनशुल्का"। वह कहती है: मुझे कोई गुण से ही मोल ले सकता है, धन से नहीं। ऐसी अनहोनी बुद्धि-हीनता का हठ उसकी बहन काममंजरी और उसकी मां की समझ में नहीं आता। वे राजा से भी शिकायत करती हैं: "देव, हमारी बड़ी आशा थी कि रागमंजरी अपने रूप से और रूप जैसे ही मोहक कला-कौशल से हमारे सब मनोरथ पूरे करेगी, पर उसने तो हमारी आशा जड़ से ही उखाड़ फेंकी है। उसने अपना कुल-धर्म छोड़ दिया है और धन की जगह गुण के हाथ बिकना चाहती है, कुल-स्त्रियों की तरह रहना चाहती है।"[3] कहानी में तो दण्डिन् का कुशल नायक, हमारा रंगीला राजकुमार, बड़ी चतुराई से उसको अपना बना लेता है: उसे अपने गुणों से जीत लेता है और उसकी माँ, बहन को पैसे से। रागमंजरी को मन-चाही मिल जाती है। पर वह स्वतत्रा नहीं रहती, और सच पूछिये तो न कुल-स्त्री ही बन पाती है। गणिका किसी की स्त्री होकर भी समाज में कुल-स्त्री का स्थान नहीं पा सकती थी। रागमंजरी के साथ भी यही हुआ होगा।

संस्कृत में गणिका के प्रेम की और प्रेम-विवाह की और भी कहानियां हैं। पर इनमें एक बात की ओर हमारा ध्यान कम जाता है: ये कहानियां गणिका के स्वतंत्रा से अस्वतन्त्रा हो जाने की हैं। अपनी स्वतन्त्रता रखते हुए गणिका पुरुष को काम के मार्ग से ही अपना सकती थी, प्रेम के मार्ग से नहीं। इस विषम स्थिति का मार्ग कुट्टिनीमतम् की एक कहानी

---

3. दशकुमार चरितम्, उल्लास 2 (निर्णयसागर संस्करण, पृ. 111)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

के पीछे झलकता है। संस्कृत-साहित्य की यह अपनी तरह की एक अनूठी प्रेम-कहानी है जो हीर-रांझा, लैला-मजनू जैसी कहानियों की याद दिलाती है। कहानी की ट्रेजिक नायिका एक गणिका है। और शायद संस्कृत में ऐसी कहानी एक गणिका की ही कहानी हो सकती थी।

कुट्टनीमतम् के लेखक दामोदर गुप्त थे। वे काश्मीर के राजा जयापीड के प्रधान-मंत्री भी थे और सभा-कवि भी। जयापीड ने ई. 779 से 813 तक काश्मीर पर राज्य किया। कुट्टनीमतम् उसी समय की रचना है। कुट्टनीमतम् में दुनियां—देखी हुई, एक अनुभवी वृद्ध गणिका—कुट्टनी एक तरुण गणिका को सफल कैसे बना जाय यह उपदेश देती है। वे सारे गुर बताती है जिनसे प्रेम नहीं पर प्रेम का नाटक करते हुए पुरुष को मोह कर उसका अर्थ-ग्रहण किया जा सकता है। दामोदर की भाषा में उनके अपने समय के कवि-कर्म की भंगी और अलंकारों की छटा है। बीच-बीच में रोचक कहानियों का पुट भी है। पर उनके उपदेश का तात्पर्य कोई बहुत नया नहीं है, कामशास्त्र में भी मिल जाता है। कामशास्त्र में वात्स्यायन इसी विषय पर लिखने वाले एक बड़े आचार्य का नाम लेते हैं: आचार्य दत्तक; और यह स्वीकार भी करते हैं कि इस विषय की कामशास्त्र की बहुत सी उक्तियां उन्हीं की उक्तियों का संक्षेप हैं। दत्तक ने पुरुषों को मोहने के क्या-क्या उपाय बताए हैं यहां उनमें जाने की ज़रूरत नहीं। पर उसके मूल सिद्धांत के दो सूत्र ये थे: एक, गणिका को सच्चा प्रेम कभी नहीं करना चाहिए—सद्भावजानुरक्तिर्नहि रम्या पण्यनारीणाम्। और दूसरा: उसे अपने रूप को (और अपने कला-कौशल को) धन-सिद्धि का साधन ही समझना चाहिये—अस्मादृशां हि मुग्धे धनसिद्धौ रूपनिर्माणम् (कुट्टनीमतम्, 276-277)।

गणिका-शास्त्र के ये दो सूत्र एक गणिका अपनी प्रिय सखी दूसरी गणिका, हारलता, को उसका मोहभंग करने के लिए सुनाती है। हारलता प्रेम के आवेश में संयम खो देने वाली थी। पर सखी का मोह-भंग का प्रयास निष्फल ही रहता है। प्रेम का जादू चल ही है। हारलता के प्रेम का पात्र एक विदेशी ब्राह्मण युवक था, सुन्दर सेन। हारलता को देखकर वह भी मोह-विवश हो जाता है। उसका अन्तरंग सखा गुणपालित उसे बहुत समझाता है और कहता है कि गणिकायें सदा प्रेम नहीं कर सकतीं। वे छल-छद्म के हीं पाठ पढ़ती हैं। पर सुन्दरसेन पर कोई असर नहीं होता। बात कहने सुनने के बाहर निकल गई थी।

हारलता सुन्दरसेन को अपने घर ले जाती है। पहली रात के सहज विह्वल मिलन का दामोदर गुप्त ने बड़ा विदग्ध वर्णन किया है। ज्यों-ज्यों दिन बीतते हैं दोनों का प्रेम गहरा होता जाता है। पर सुन्दरसेन को हारलता के साथ रहते हुए जब एक साल बीत चुकता है तब एक दिन अचानक सुन्दरसेन के पिता का एक पुराना नौकर पिता की चिट्ठी लेकर उसके पास आता है। पिता ने अपने इकलौते पुत्र को तीखी उलाहना दी थी: मैंने तुम्हें वेद पढ़ाया. स्मृति के आचरण में दीक्षा दी और तुम हो कि गणिका-लोक में अपने आप को खो बैठे हो। मैंने सोचा था कि तुम मेरी जगह लोगे, घर संभालोगे और मैं पर-लोक साधूंगा, पर सब उल्टा हो गया, मेरा बुढ़ापा सँवरने की जगह बिगड़ गया। मुझे दुष्ट पुत्र का पिता होने का कलंक सहना पड रहा है। इन बातों से सुन्दरसेन का मन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उचाट हो गया। गुणपालित ने भी अपनी पुरानी सीख दुहराई। उसके आगे गणिका की निन्दा की, कुलस्त्री के स्वच्छ, सरल प्रेम का गुणगान किया।

सुन्दरसेन कुछ समय धर्मसंकट में रहा, एक ओर पिता का बुलावा और दूसरी ओर सच्चे मन से चाहने वाली—"अनपेक्षित–धनलाभा, स्नेहवद्ध–मानसा प्रिया"—जिसे कोई अभागा या वज्र-हृदय ही छोड़ सकता है। पर पिता की ही जीत हुई। और सच पूछिये तो गणिका-लोक में सुन्दरसेन का क्या स्थान हो सकता था? केवल प्रेम ही तो जीवन का सर्वस्व नहीं हो सकता! पर हारलता के लिये वह जीवन का सर्वस्व हो चुका था। फिर भी उसने सुन्दर-सेन को रोकने की चेष्टा नहीं की। यही कहा कि मैं गणिका हूँ, आपके योग्य नहीं हूँ, आप इतने दिन रहे, मेरे पुण्यों का फल था, मैं आपकी पत्नी का स्थान नहीं ले सकती, मुझे भूल जाइएगा। हारलता जानती थी कि अपने छोटे से निर्बंध संसार के बाहर वह सुन्दरसेन को वैसे मुक्त, घनिष्ट भाव से नहीं पा सकेगी: जैसी उसके प्रेम की एषणा थी।

सुन्दरसेन जाने लगा तो हारलता काफ़ी दूर तक पीछे गई। फिर एक बरगद के नीचे: "आस्व सुखं दयितिके, व्रजामि" (सुख से रहना प्रिये, मैं चला) कहकर सुन्दरसेन आगे बढ़ गया। हारलता उसकी तरफ देर तक देखती रही। फिर अपने प्राणों से बोली: "अभी दिख रहा है, ओझल नहीं हुआ है, अभी उसे और देख लेने दो, मुझे छोड़ कर मत जाओ।" पर प्राण रुके नहीं, चले ही गए। उसकी निर्जीव काया बरगद के नीचे निश्चेष्ट हो गई। सुन्दरसेन कुछ आगे बढ़ा तो पीछे आता एक बटोही मिला। उससे पूछा: "तुमने नगर की ओर लौटती हुई किसी दुखियारी स्त्री को देखा था क्या?" बटोही ने बताया कि और तो नहीं पर उसने बरगद के नीचे निश्चल सी पड़ी एक लड़की को ज़रूर देखा था। सुन्दरसेन तड़प कर लौटा। पर हारलता जा चुकी थी। सुन्दरसेन ने उसे चिता पर जलाया। पर फिर घर की ओर मुंह नहीं किया। सन्यासी होकर वन की ओर निकल गया।

दामोदर गुप्त ने यह मार्मिक कथा बहुत संक्षेप में कही। इसमें उनका काव्य-वैभव तो उभर कर आता है पर ट्रैजेडी की गहराई में वे नहीं जा पाते। ऐसा शायद उनका उद्देश्य भी नहीं था। पर जो भी हो, कहानी को जैसा भाव-चित्रण, कथानक को जैसा फैलाव और निखार चाहिए था, उनकी लेखनी से मिल नहीं पाता। पर एक बात, मैं समझता हूं, हमारे बोध में कौंध ही जाती है: ऐसी ट्रैजेडी एक गणिका की हो सकती थी। उसे प्रेम करने का अधिकार तो था पर प्रेम की परिणति का अधिकार नहीं था। वह अपने प्रेमी की सच्ची विवाहिता नहीं बन सकती थी। अपने सीमित गणिका-जगत् के बाहर उसकी गति भी सीमित थी। हारलता को इसी प्रतीति ने अपने प्रेमी का साथ लेने से रोक दिया।

गणिकाएं पुरुषों को बस में करने के लिए कई कौशल और शिल्प, कई नाटक सीखती थीं। इन कला-कलापों का सबसे प्राचीन वर्णन दत्तकाचार्य का है। पर इनकी सफलता के लिए पुरुष के चित्त को समझना गणिका के लिये आवश्यक था। दत्तकाचार्य ने इसीलिये पुरुष के स्वभाव का भी वर्णन किया है। काफी पैंठ दिखलाई है। पर बात उनमें नहीं के बराबर है,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

जिसका विकास बाद की परम्परा में हुआ लगता है। यह है राग-सिद्धांत, जिसकी हम ऊपर चर्चा कर आये हैं। पुरुषों के किये गए त्रिया-चरित्र के अध्ययनों से तो हम सबका थोड़ा-बहुत परिचय है। कामशास्त्र के आधार पर स्त्रियों के कई वर्गीकरण भी किये गये हैं। पर यह कम लोगों को मालूम है कि गणिकाओं ने पुरुष-चित्त और स्वभाव का भी अध्ययन किया था। इसी का एक फल था राग-सिद्धांत। राग से यहां तात्पर्य "अनुरक्ति" से है। यह सिद्धान्त कहता है कि सब पुरुषों में अनुरक्ति एक सी नहीं होती। अनुरक्ति के कई भेद हैं, जिनके आधार पर विभिन्न पुरुषों को विभिन्न वर्गों में रक्खा जा सकता है। गणिका को इसका ज्ञान होना चाहिये। राग का एक अर्थ रंग भी होता है। इस श्लेष का उपयोग करते हुए अनुरक्ति के विभिन्न प्रकारों को अलग-अलग रंगों के नाम दिये गए थे। राग का एक प्रकार हमें दत्तक में ही मिल जाता है। हरिद्रा राग (हल्दी रंग)। यह रंग जितनी जल्दी चढ़ता है उतनी ही जल्दी उतरता है—पक्का नहीं होता। जिस पुरुष की अनुरक्ति में हरिद्रा राग का स्वभाव हो उसके साथ तदनुकूल बर्ताव करना चाहिए। उसे अपनाते समय, उसे छोड़ते समय और दुबारा अपनाते समय उसके स्वभाव के इस राग का ध्यान रखना चाहिए, नहीं तो काम बिगड़ सकता है। बाद के ग्रन्थों में हरिद्रा—राग के साथ और कई राग जुड़ जाते हैं और पुरुष के मनोविज्ञान का एक पूरा सिद्धान्त खड़ा हो जाता है। भोज की शृंगार मंजरी-कथा की तो हर कहानी राग के एक विशेष प्रकार का दृष्टांत देने के लिए ही लिखी गई है। कुट्टनी शृंगारमंजरी को उपदेश देते हुए करती है: "पुरुष कई तरह के होते हैं। पहले उनके चित्त को समझ लेना चाहिए, फिर किसी को उत्साह देकर, किसी के मन में प्रवेश कर, किसी का निराकरण करते हुए, किसी को भय के रास्ते, और किसी को अनुराग दिखाते हुए, पर स्वयं विरक्त रह कर उनका सर्वस्व ले लेना चाहिए और फिर उन्हें अलग कर देना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि पहले राग का ज्ञान हो। इस ज्ञान के बिना गणिका-रहस्य के सारे प्रयोग विफल हो जा सकते हैं।" फिर राग के बारह प्रकार गिनाते हैं और उन्हें चार वर्गों में बांटते हैं (शृंगारमंजरी-कथा, पृ. 13-15) इनके विस्तार में यहां नहीं जाना चाहता। वह अपने-आप में अलग प्रसंग हो जायेगा। पर मैंने पाठक का ध्यान इस ओर केवल इसलिए आकृष्ट किया कि ऐसा न समझ लिया जाए कि हमारी संस्कृति में केवल पुरुषों ने ही स्त्रियों के चरित्र को आंकने की चेष्टा की है। स्त्रियों ने भी सदृश प्रयास किया है जो शायद अधिक सूक्ष्म है।

मुझे अपनी कलम यहीं रोक देनी चाहिए। पर खत्म करने से पहले दो-एक बातें कहे बिना नहीं रुक पा रहा हूं।

हमारी सारी चर्चा के बाद भी प्रश्न उठ सकता है कि भारतीय समाज और संस्कृति में वह क्या विशेषता थी जो गणिका को अपनी एक अलग सी, छोटी सी, दुनियां ही सही, पर स्वतन्त्र रहने की छूट देती थी? विज्ञानेश्वर ने छूट दी नहीं है, जो छूट थी उसको ही समर्थन दिया है। इससे अधिक कुछ नहीं। छूट का वास्तविक आधार था: संस्कृति और समाज में वैविध्य की सहज स्वीकृति। पर वैविध्य को विस्तार कोरी स्वीकृति से नहीं मिलता है, उसे समाज-व्यवस्था में भी आधार चाहिये। भारत में वैविध्य की स्वीकृति की शक्ति

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

तंत्र की बहु-केन्द्रकता की नींव दी गई थी। इसीलिए वैविध्य पनपा और बना रहा। हम आज भारतीय संस्कृति के वैविध्य की अक्सर गौरव के साथ चर्चा करते हैं पर समाज-व्यवस्था में, राजतंत्र में, व्यवहार-तंत्र में, कानून में, उसके क्या आधार रहे होंगे, इन बातों में कम जाते हैं। वैविध्य की प्रवृत्ति सभी बड़े समाजों में होती है। प्रश्न यही होता है कि वैविध्य कितना हो? उसका रूप क्या हो? और सबसे टेढ़ी बात: इस बहुरूपता के साथ एकरूपता की मर्यादा का सम्बन्ध कैसा हो? एकरूपता और वैविध्य के बीच सभी बड़े समाज सदा संधि और समझौता बनाए रखने की चेष्टा करते रहते हैं। संघर्ष कभी मिटता नहीं। उसका स्वर कभी मन्द्र हो भी जाता है तो फिर तार की ओर बढ़ने लगता है।

भारत में वैविध्य का एक बड़ा आधार था वर्ण, और उससे भी अधिक जाति-व्यवस्था। वैविध्य का आधार भी हर समाज में भिन्न होता है। हम अक्सर भूल जाते हैं कि एक ही वर्ण में भिन्न जातियां अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाये रखती हैं। समाज हर जाति को एक बड़ी सीमा तक अपना तंत्र आप ही चलाने की स्वतन्त्रता देता था। जाति के सिवा और भी समुदाय थे, व्यापारियों के, धार्मिकों के, शिल्पियों के एवं अन्य वर्गों के, जिन्हें ऐसी ही छूट मिली हुई थी। ये जातियां और समुदाय, जिनमें से कई बाद में शायद जातियां ही बन गए—छोटे-मोटे राज्यतन्त्र जैसी ही व्यवस्था से बँधे होते थे। राज्य के भीतर इनका अपना अलग स्वाराज्य चलता था। व्यवस्था के ऐसे वैविध्य की राज्यतन्त्र में ही नहीं धर्मशास्त्र में भी स्वीकृति थी। इस स्वीकृति से शास्त्र के भीतर स्पष्ट विरोध उभर कर आता था, पर उसकी ओर अनदेखा कर दिया जाता था। गणिका में हम इस विरोध का एक उत्कट दृष्टांत पाते हैं, पर दूसरे दृष्टांतों की भी कमी नहीं।

जातियों को और समुदायों को स्वातन्त्र्य देने की प्रथा ने ही गणिका को अपना एक अलग गणिका-लोक बनाने का आधार दिया। गणिका में "गण" शब्द के प्रयोग से लगता है कि यह भी एक अलग समुदाय ही था जो बाद में वर्ण या जाति के रूप में बदल गया।

इस गणिका-लोक का स्थान हमारी संस्कृति की एक विशिष्ट धारा में बहुत गहरा रहा है जिसको हम नागर-संस्कृति, विदग्ध-संस्कृति या रसिक-संस्कृति का नाम दे सकते हैं। यह नगरों की विदग्ध संस्कृति थी जिसका अपना एक अलग स्वर था, ऐसा स्वर जिसका संस्कृति के अन्य स्वरों से पूरा संवाद नहीं बैठता था। गणिका इस नागर संस्कृति का सर्वस्व तो नहीं पर केन्द्र अवश्य थी।

इस संस्कृति का चित्र यहां नहीं आंकूंगा। जिज्ञासु पाठक वासुदेव शरण अग्रवाल की "चतुर्भाणी" देख सकते हैं। यह रचना गुप्त युग की है जबकि नागर संस्कृति अपने शिखर पर थी। इस संस्कृति में धर्मशास्त्र और अध्यात्मशास्त्र अक्सर कटाक्ष के पात्र होते थे क्योंकि उनके आदर्शों से नागरों का रसवादी आदर्श अलग ही था। विधान से जो विरुद्ध हो अक्सर वही नागरों का आदर्श होता था। एक विकट आदर्श था परकीया प्रेम का आदर्श, अपनी पत्नी से, और गणिका से भी, प्रेम विहित प्रेम है। इसमें वह कसक नहीं, बोध का वह उद्वेग, वह कठिन पर उत्तुंग शिखर नहीं जो पर-स्त्री के प्रेम में है। इसलिए परकीया प्रेम को ही

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

रसिक-लोक सबसे बड़ा प्रेम मानता था। पर एक बात कम लोग जानते हैं। परकीया-प्रेम के इस आदर्श का प्रभाव रसिक-समाज तक ही सीमित नहीं रहा था। कुल-स्त्री पर भी इसका प्रभाव पड़ा था, चाहे वह कितना ही विरल क्यों न रहा हो। हमारे यहां हर देवता का एक स्त्री-रूप होता है। वैसे ही परकीया भाव ने स्त्री-समाज में एक अनुरूप भावना और आदर्श को जन्म दिया था। इसे हम परकीय-भाव कह सकते हैं। इस आदर्श में पर-पुरुष का प्रेम ही सच्चा प्रेम माना गया।

ऐसा कहा जाता है कि बाद के युगों में भक्तों ने परकीया-भाव को ईश्वर-उन्मुख कर दिया और इसी भाव ने राधा को जन्म दिया जिसमें प्रेम अपने चरम उत्कर्ष को पहुँचता है। पर यहां थोड़ा सा सोच कर देखिये। राधा के प्रेम को क्या परकीया-भाव कहना ठीक है? उसे तो परकीय–भाव ही कहना चाहिए क्योंकि परकीया–भाव तो पुरुष का भाव होता है स्त्री का नहीं, इस परकीया–भाव में डूब कर ही चैतन्य मम्मट द्वारा उद्धृत उस प्रसिद्ध श्लोक से विभोर हो जाया करते थे जिसमें नायिका कहती है: वही चांदनी रात है, वही रेवा का किनारा है, वही प्रेमी भी है, पर आज वह पहले वाली बात नहीं, क्योंकि वह प्रेमी अब मेरा पति बन चुका है। (यह श्लोक काव्यप्रकाश का पहला ही उदाहरण है) स्पष्ट है कि श्लोक में परकीय–भाव ही प्रकट हुआ है। यह उदाहरण इस भाव का बड़ा सशक्त उदाहरण है, हालांकि इसे परकीय–भाव के नाम से पुकारा नहीं जाता है। पर मैं इससे भी स्पष्ट कुछ और उदाहरण आपके सामने रखता हूं जिससे विदित हो कि यह कोई अकेला, भूला-भटका सा उदाहरण नहीं है। मेरे उदाहरणों में आप देखेंगे कि परकीय–भाव का स्वर और भी असंदिग्ध, स्वतंत्र रूप लेकर आता है। उदाहरण बारहवीं सदी के सदुक्तिकर्णामृतम् से हैं। लिखे तो और भी पहले गये होंगे, पर कितने पहले यह नहीं कहा जा सकता। इन उदाहरणों में परकीय–भाव की बड़ी प्रगल्भ और तीखी अभिव्यक्ति है, व्यंग्य की करारी चोट है। पर हमारे लिये जो सबसे बड़ी विस्मय की बात है वह है इनमें जागता हुआ खुले विद्रोह का अनहोना स्वर। पुरुषों के परकीया-भाव में यह स्वर नहीं है, और भक्तों की राधा के परकीय भाव में भी नहीं है।

पहला उदाहरण शरण नामक कविता की है। परिहास का पैनापन देखिए:

सुनो सखी, अचानक
किसी की आंख में
आंख डाल कर कभी न देखना
बड़े अटपटे हैं
इस नगरी के लड़के
और तुम्हारे अग
अब निखरने लगे हैं
जब तक चांद सूरज है
तुम्हें एक ही पति की
सेवा करनी है

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अपने रूप की रक्षा करो
और सुनो
हम जैसों की बात पर
कभी कान न देना।
उन्मीलद्यौवनासि प्रियसखि
विषमाः श्रेण्यो नागराणां।
तस्मात्कोपि त्वयाद्य प्रभृति न सहसा
संमुखं वीक्षणीयः।
यावच्चन्द्रार्कमेकः पतिरतिशयितश्रद्धया सेवितव्यः
कर्तव्या रूपरक्षा वचसि न हृदयं
देयमस्मद्विधानाम् ।।

(सदुक्ति करणामृत छन्दः 537)

दूसरी भी शरण की ही है। यहां व्यंग्य के साथ विद्रोह भी प्रकट है :

"अपने पति की पूजा करो
उनके जहां चरण पड़ें,
वहीं धीरे पांव धरो"
यह उलटा पाठ
कहां पढ़ आई है तू ?
किस बीहड़ में पांव बढ़ाती है !
ऐसे रूप का क्या
बता
जिस पर नित कोई
नया
निछावर न हो
ऐसा पाठ
किस काम का है
भला,
जो प्रेम की धार को
नया रंग
नया बांक
न देता रहे।

आराध्यः पतिरेव तस्य च पदद्वन्द्वानुवृत्तिर्व्रतं
केनैताः सखि शिक्षितासि विपथप्रस्थानदुर्वासनाः।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

किं रूपेण न यत्र मज्जति मनो यूनां किमाचार्यकै-
गूँढ़ानङ्गरहस्ययुक्तिषु फलं येषां न दीर्घं यशः ।।

(सदुक्ति कर्णामृत् छन्दः 538)

अब इस अंतिम छन्द को देखिए। यहां विद्रोह का स्वर तारसप्तक पर चढ़ गया है। छन्द चड़ामणि का है :

छाती के उभार पर
नई अंगिया के बांध
और कस लो
खुले पांव चला
आ गया कुंज
पति संग के सब पाप
यहीं
धुल जाएंगे ।

निविडय कुचयोर्निचोलबन्धं
रचय लघूनि कियन्तिचित्पदानि ।
निजपतिचिरभोगपातकाना-
मुपशमतीर्थमयं स ते निकुञ्जः ।

(सदुक्ति कर्णामृत् छन्दः 781)

विज्ञानेश्वर की एक विशेष चर्चा को लेकर यह लेख आगे बढ़ता है। जो पाठक मूल को देखना–परखना चाहें उनके लिये उद्धरण प्रस्तुत है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, विज्ञानेश्वर की यह चर्चा याज्ञवल्क्य स्मृति, व्यवहाराध्याय, श्लोक 290 पर है। निर्णय सागर संस्करण) ।

साधारणस्त्रीगमने दण्डमाह—

अवरुद्धासु दासीषु भुजिष्यासु तथैव च ।
गम्यास्वपि पुमान्दाप्यः पञ्चाशत्पणिकं दमम् ।।290।।

'गच्छन्' इत्यनुवर्तते । उक्तलक्षणा वर्णास्त्रियो दास्यः ता एव स्वामिना शुश्रूषाहानिर्व्युदासार्थं गृह एव स्थातव्यमित्येवं पुरुषान्तरोपभोगतो निरुद्धा अवरुद्धाः, पुरुषनियतपरिग्रहा भुजिष्याः, यदा दास्योऽवरुद्धा भुजिष्या का पुरुषादुत्पन्ना पुरुषसंभोगवृत्तिर्वैश्येति ब्राह्मण्यादिवल्लोकप्रसिद्धिबलादभ्युपगमनीयम् । न च निर्मूलेयं प्रसिद्धिः । स्मर्यते हि स्कन्दपुराणे—'पञ्चचूडा नाम काश्चनाप्सरसः, तत्सन्ततिर्वेश्याख्या पञ्चमी जातिः' इति । अतस्तासां नियतपुरुषपरिणयनविधिविधुरतया समानोत्कृष्टजातिपुरुषाभिगमने नादृष्टदोषो नापि दण्डः । तासु

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

यानवरुद्धासु गच्छतां पुरुषाणां यद्यपि न दण्डस्तथाऽप्यदृष्टदोषोऽस्त्येव । 'स्वदारनिरतः सदा' (3145) इति नियमात् ।—'पशुवेश्याभिगमने प्राजापत्यं विधीयते' इति प्रायश्चित्तस्मरणाच्चेति निरवद्यम् ।।290।।

इतिहास विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर ।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उन्मीलन-गोष्ठी

14 दिसम्बर 1990 को सम्पन्न उन्मीलन-गोष्ठी की बैठक में प्रोफ़ेसर राजेन्द्रप्रसाद के लेख "ऑन विट्गेंश्टाइंस् ट्रांसेंडेंटल एथिक्स" पर विचार हुआ। यह लेख जर्नल ऑफ इंडियन काउंसिल फ़ॉर फ़िलोसोफ़ीकल रिसर्च के 1989 के प्रथम अंक में प्रकाशित हुआ था। इस लेख पर तीन टिप्पणियां प्रस्तुत की गईं जिन में से दो यहां दी जा रही हैं।

विट्गेंश्टाइन के अतिक्रामी नीति-दर्शन पर प्रोफ़ेसर प्रसाद

नैतिक चिन्तन के सन्दर्भ में विट्गेन्श्टाइन के विचार क्या थे, इस सम्बन्ध में मौलिक सामग्री अधिक नहीं मिलती। कहा जाता है कि सितम्बर 1929 तथा दिसम्बर 1930 के बीच केम्ब्रिज में किसी गोष्ठी में विट्गेन्श्टाइन ने नीतिशास्त्र पर एक व्याख्यान दिया था। इस व्याख्यान के विषय में एक रोचक बात यह है कि यह एकमात्र ऐसा व्याख्यान है जिसे विट्गेन्श्टाइन ने पहले से तैयार किया था। व्याख्यान के लेख को कोई शीर्षक नहीं दिया गया, परन्तु लेख में आगे यह बताया गया है कि उसका विषय एथिक्स है।[1] रश रीस ने इस व्याख्यान (यह अंग्रेज़ी भाषा में ही दिया गया था) को, तथा सम्बन्धित प्रश्नों के विषय में वाइज़मान एवं श्लिक से विट्गेन्श्टाइन की बातचीत के कुछ अंशों को, अपनी टिप्पणियों सहित फ़िलोसोफ़िकल रिव्यू में प्रकाशित किया।

विट्गेन्श्टाइन के इस व्याख्यान तथा किन्हीं अन्य स्रोतों के आधार पर प्रो. राजेन्द्र-प्रसाद ने जर्नल ऑव इंडियन काउन्सिल ऑव फ़िलोसोफ़िकल रिसर्च के 1989 के अंक में विट्गेन्श्टाइन के नैतिक चिन्तन पर एक लेख प्रकाशित किया। प्रसाद विट्गेन्श्टाइन के नैतिक चिन्तन को ट्रान्सेन्डेन्टल एथिक्स कहते हैं। उनके लेख के विषय में किसी प्रतिक्रिया के पहले उनकी प्रस्तुति को सार रूप में रखना आवश्यक है। इसलिये भी कि हिन्दी के कुछ पाठकों को यह सामग्री उपलब्ध नहीं होगी।

---

1. 'विट्गेन्श्टाइन्स् लेक्चर ऑन एथिक्स'—रश रीस, द फ़िलसोफ़िल रिव्यू, जनवरी. 1965, पृ. 4.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ट्रैक्टेम में विट्गेन्श्टाइन ने आरम्भ में ही यह स्थापना रखी कि 'जगत् तथ्यों की समग्रता है।' प्रतिज्ञप्ति (जात्स) तथ्य को चित्रित करती है। प्रनिज्ञप्ति वही भाषाई अभिव्यक्ति होती है जो सत्य अथवा मिथ्या हो। तथ्य आपातिक होते हैं, क्योंकि वे जो हैं उस से भिन्न भी हो सकते थे, नहीं भी हो सकते थे, उनके विषय में कोई अनिवार्यता नहीं होती। दूसरी ओर, विट्गेन्श्टाइन के लिये नैतिक मूल्य परम तथा अनिवार्य होता है। क्योंकि जगत् में कुछ भी अनिवार्य नहीं है अतः नैतिक मूल्य जगत् में, उसकी किसी भी वस्तु या घटना में नहीं हो सकता। सार्थक वाक्य (जात्स) तथ्यों के विषय में होते हैं : मूल्य तथ्य नहीं होते अतः सार्थक वाक्यों द्वारा उनकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। भाषा की सीमा जगत् की सीमा है, अतः मूल्यों की बात भाषा में नहीं की जा सकती। मूल्य-बोध होना जगत्/भाषा की सीमा से टकराना है।

आत्म, देहयुक्त आनुभविक जीव से भिन्न, जगत् और भाषा से परे है : चिन्तनशील आत्म के रूप में नहीं अपितु मात्र संकल्प के रूप में। यह आत्म जगत् में कोई परिवर्तन नहीं ला सकता। जगत् की ओर इसकी दृष्टि हो सकती है। यह दृष्टि नैतिक दृष्टि को अभिव्यक्त कर सकती है। सुख सही दृष्टि, जगत् की सम्पदा के त्याग तथा जीवन के ज्ञान पर आश्रित है।

मूल्य-बोध को स्पष्ट करने के लिये विट्गेन्श्टाइन किन्हीं विलक्षण अनुभवों का उल्लेख करते हैं। इन में से एक है 'जगत् है' इस पर विस्मय होना : 'यह कितनी अद्भुत बात है कि जगत् का अस्तित्व है !' इस प्रकार का अनुभव वे विशिष्टताएं प्रदर्शित करता है जिन की ओर हम मूल्य बोध को समझने के लिये इशारा करना चाहते हैं। विट्गेन्श्टाइन के अनुसार पहली बात तो यह है कि जिस शाब्दिक अभिव्यक्ति में इस प्रकार के अनुभव का वर्णन किया जाता है वह सार्थक नहीं होती। इस प्रकार की भाषा का प्रयोग भाषा का अपप्रयोग है। किसी विषय पर आश्चर्यचकित होना सार्थक बात होती है यदि एक और शर्त पूरी होती हो तो। विट्गेन्श्टाइन का उदाहरण है कि यदि हम किसी ऐसे कुत्ते का प्रत्यक्ष करते हैं जो असाधारण रूप में बड़े आकार का है, तो हमें विस्मय होता है, पर वह इसलिये कि ऐसा साधारणतया नहीं होता। अब यह बात जगत् के अस्तित्व के विषय में लागू नहीं होती क्योंकि जगत् के अस्तित्व पर विस्मय होना इस बात का सूचक नहीं है कि जगत् मेरे लिये कभी नहीं था। जिस विस्मय की बात विट्गेंश्टाइन करते हैं उसमें तुलना की अवधारणा का समावेश नहीं है। इस प्रकार के विस्मय के लिये कोई कारण नहीं दिया जा सकता। ईश्वर तथा 'शिव' के सम्बन्ध के विषय में श्लिक के विचारों के बारे में टिप्पणी करते हुए विट्गेन्श्टाइन ने कहा है कि यह मानने के स्थान पर कि ईश्वर शिव की इच्छा इसलिये करता है क्योंकि वह शिव है, यह अधिक सही है कि शिव इसलिये शिव है क्योंकि ईश्वर उसकी इच्छा करता है। विट्गेन्श्टाइन का तर्क है कि इस बाद की बात को मानना इस सम्भावना का पूर्णतया निराकरण कर देता है कि शिव के लिये कोई कारण या आधार प्रस्तुत किया जा सकता है। इन सादृश्यों को ध्यान में रखें तो कहना होगा कि नैतिक मूल्य की अभिव्यक्ति जिस भाषा में की जाती है वह भाषा का सही प्रयोग नहीं है तथा नैतिक मूल्य का आधार तलाश करना भ्रान्त प्रयास है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

नैतिक मूल्य को अभिव्यक्त करने वाले वाक्य सार्थक नहीं होते, यह स्थापना विट्गेन्श्टाइन, संवेगवादी (इमोटिविस्ट) तथा नॉन-कौग्नीटिविस्ट के साम्य की ओर ध्यान आकर्षित करती है। परन्तु प्रसाद यह दिखाने का सफल प्रयास करते हैं कि विट्गेन्श्टाइन के मत को संवेगवादी/नॉन-कौग्नीटिविस्ट नहीं कहा जा सकता। इसका एक प्रमुख कारण है, विट्गेन्श्टाइन का मूल्य को वस्तुनिष्ठ, अनिवार्य तथा परम मानना। अनिवार्यता से विट्गेन्श्टाइन का आशय उनकी इस टिप्पणी से स्पष्ट होता है : यदि किसी रास्ते को सही रास्ता कहा जाता है तथा सभी यह स्वीकार करते हैं कि अमुक रास्ता सही रास्ता है, तब उस रास्ते पर चलना अनिवार्य हो जाता है। इसके विपरीत उस रास्ते पर नहीं चलना अपराध-बोध को निमन्त्रण देना है।[2]

प्रसाद का मत है कि अतिक्रामी नीतिशास्त्र साधारण नीतिशास्त्र नहीं है और इस लिये वह नीतिशास्त्र भी नहीं है। (पृ. 25)

विट्गेन्श्टाइन के उपर्युक्त विचारों पर कहीं स्पीनोज़ा की तो कहीं कान्ट की, कहीं मूर की तो कहीं शोपेनहावर की छाया लक्ष्य की जा सकती है। सार्थक ज्ञान की सीमा को तथ्यों तथा सत्यासत्य प्रतिज्ञप्तियों तक रखना, नैतिकता को इस सीमा से परे रखना कान्ट का ध्यान दिलाता है। जगत् में संकल्प का निष्प्रभ होना, स्वतन्त्रता तथा अनिवार्यता की अभिन्नता, एवं जगत् के प्रति एक विशिष्ट दृष्टि अपनाने का आग्रह स्पीनोज़ा की ओर ले जाता है, संकल्प का अतिक्रामी रूप में आधारभूत होना शोपेनहावर की याद दिलाता है तो शिव अथवा श्रेयस् का निराधार होना मूर की। जैसा प्रसाद बताते हैं, विट्गेन्श्टाइन की विचार-योजना में तथ्यात्मक मूल्य अथवा मूल्यपरक तथ्य एक विरोधाभासी अभिव्यक्ति हैं। तथ्य तथा मूल्य में भेद मानने की परम्परा सुदीर्घ तथा व्यापक है इस दृष्टि के अनुसार मूल्य न तो तथ्यों पर आधारित होते हैं और न ही उन्हें तथ्यों से नियंत्रित किया जा सकता है। वे वस्तुनिष्ठ, नियत होते हैं। इस दृष्टि की अभिव्यक्ति तथ्य तथा मूल्य में आत्यन्तिक भेद के रूप में तथा मूल्यों का ग्रहण नितान्त विशिष्ट प्रकार के तथ्यों के रूप में इस प्रकार अलग अलग हुई है। मूल्यों की वस्तुनिष्ठता की अवधारणा के स्रोत यूनानी दर्शन में देखे जा सकते हैं।

इस परिप्रेक्ष्य में देखें तो प्रसाद ज़ो भेद अतिक्रामी तथा साधारण नीति में करते हैं वह अधिक से अधिक एक विशिष्ट नीतिशास्त्रीय परम्परा के सन्दर्भ में ही ठीक समझा जायगा। यदि संवेगवादी या अ-ज्ञानवादी (इमोटिविस्ट या नॉन कौग्नीटिविस्ट) परम्परा को ही साधारण नीतिशास्त्र कहें तथा बुद्धिवादी नीतिशास्त्रीय परम्परा में साधारण नीतिशास्त्र को शामिल न करें तब ही यह कहना उचित होगा कि अतिक्रामी नीतिशास्त्र साधारण नीतिशास्त्र का प्रतिक्रम है।

प्रसाद कदाचित् यह आपत्ति उठायें कि बुद्धिवादी परम्परा भी अतिक्रामी नीतिशास्त्र के अर्थ में साधारण नीतिशास्त्र का निर्देश नहीं करती। अतिक्रामी नीतिशास्त्र में सार्थक भाषाई अभिव्यक्ति के लिए कोई स्थान नहीं है और कोई बुद्धिवादी इस बात को स्वीकारने

---

1. वहीं, पृ. 7.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

के लिये तैयार नहीं होगा। यदि भाषा के सम्बन्ध में ट्रैक्टेटसीय मत तक ही सीमित रहें तब अतिक्रामी/साधारण भेद से कोई मुक्ति नहीं है। परन्तु यदि इन्वैस्टिगेशन्स का सन्दर्भ लें जहाँ विटगेन्स्टाइन ने भाषा की कहीं अधिक व्यापक समझ प्रस्तुत की है, तब उपर्युक्त भेद मानने में कोई अनिवार्यता नहीं रहती।

एक दूसरे रूप में, जैसा प्रसाद कहते हैं, एक भेद स्वाभाविक प्रतीत होता है और वह यह कि विट्गेन्श्टाइन आत्म तथा संकल्प को क्रिया तथा कर्त्ता से असम्पृक्त मानते हैं। उनकी दृष्टि में आत्म अथवा संकल्प के द्वारा जगत् में कोई परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। साधारणतया नीतिशास्त्र में कर्म की अवधारणा आधारभूत होती है। ऐसा समझा जाता है कि नीतियुक्त कर्म के द्वारा कर्त्ता स्वयं अपने व्यक्तित्व में तथा जगत् में परिष्कार अथवा किसी प्रकार का बदलाव लाता है। कर्म का सद्गुण के अनुकूल होना समाज तथा मानवीय सम्बन्धों में वांछनीय व्यवस्था लाना तथा उसे बनाये रखना है। इस सन्दर्भ में सार्वजनिक कल्याण अथवा लोक-हित का नीतिशास्त्र में केन्द्रीय स्थान है। साथ ही कर्म की दिशा तथा उसकी नैतिक उत्कृष्टता अथवा गुण का निर्धारण इनके प्रकाश में ही हो सकता है।

इसके विरुद्ध कर्त्तव्यवादी दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि व्यक्तित्व अथवा समाज में कोई परिवर्तन आता है या नहीं, उनका उन्नयन होता है या नहीं, यह सब नैतिक दृष्टि से प्रासंगिक नहीं है। प्रमुख बात यह है कि कर्त्ता ने कर्म को कर्त्तव्य की भावना से किया है या नहीं। परन्तु कर्त्तव्यवादी के लिये यह मानना आवश्यक नहीं है कि उसका कर्म व्यक्ति अथवा जगत् में कोई बदलाव नहीं लाता। कान्ट की कर्त्तव्य की अवधारणा में कर्त्ता के समक्ष दूसरे व्यक्ति का व्यक्ति-मूल्य एक आवश्यक शर्त है।

इस प्रकार चाहे लोक–हित की दृष्टि से देखें अथवा फल को ध्यान में न रखते हुए केवल कर्त्तव्य-निर्वाह की दृष्टि से देखें, दोनों ही अवस्थाओं में कर्म के द्वारा कर्त्ता का जगत् में हस्तक्षेप संभव मानना पड़ता है। और विट्गेन्श्टाइन को यह स्वीकार्य नहीं है, अतः विट्गेंश्टाइन का अतिक्रामी नीतिशास्त्र साधारण नीतिशास्त्र से नितान्त भिन्न मानना होगा।

यहाँ इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि जगत् में परिवर्तन अथवा हस्तक्षेप से विट्गें-श्टाइन का क्या आशय है। जैसा पहले कहा जा चुका है, विट्गेन्श्टाइन के लिए जगत् तथ्यों की समग्रता है। इन तथ्यों की अभिव्यक्ति सत्य या असत्य प्रतिज्ञप्तियों में ही संभव है। प्रश्न यह है कि इस जगत् से किसी कर्म का क्या सम्बन्ध हो सकता है। क्या कोई सम्बन्ध हो भी सकता है? एक तथ्य का किसी दूसरे तथ्य से सम्बन्ध हो सकता है, परन्तु जो तथ्य नहीं है उस से किसी तथ्य का सम्बन्ध हो सकता है क्या? स्पष्टतया नहीं। तथ्यों के जगत् में कर्म की बात कर्म के रूप में नहीं अपितु किसी घटना के रूप में ही संभव है, जो अन्ततः तथ्य के रूप में ही देखी जा सकती है। एक घटना दूसरी घटना से कारण-कार्य का सम्बन्ध रखती है, ऐसा कहा जा सकता है; अन्य शब्दों में, मानवीय कर्म की व्यवहारवादी व्याख्या, जो क्रिया-प्रतिक्रिया के यन्त्रवत् सम्बन्ध के रूप में ग्रहण की जा सकती है, उस में कर्त्ता-भाव अथवा व्यक्ति के संकल्प के लिये स्पष्टतया कोई स्थान नहीं है। इस विमर्श से

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

नीतिशास्त्र की एक प्रमुख समस्या, संकल्प की स्वतन्त्रता, का पता चलता है। अब यदि इस समस्या का कोई स्पष्ट उत्तर/समाधान उपलब्ध न हो तो इस से प्रतिक्रामी नीतिशास्त्र साधारण नीतिशास्त्र से भिन्न वस्तु का रूप ग्रहण कर लेगा, ऐसा निष्कर्ष प्राप्त नहीं होता। यदि इस पर भी साधारण नीतिशास्त्र तथा प्रतिक्रामी नीतिशास्त्र को परस्पर अलग रखना चाहें तब यह कहा जा सकता है कि प्रतिक्रामी नीतिशास्त्र साधारण नीतिशास्त्र के लिये एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित करता है—स्वतन्त्रता का प्रश्न। साधारण नीतिशास्त्र इस प्रश्न का दायित्व अस्वीकार करके नीतिशास्त्र की पहचान भी खो देगा।

राजेन्द्रस्वरूप भटनागर
दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

राजेन्द्रप्रसाद द्वारा प्रस्तुत विट्गेंश्टाइन का अतिक्रामी नैतिकता का सिद्धान्त×

प्रोफेसर राजेन्द्रप्रसाद का यह लेख इस दृष्टि से बहुत उपयोगी है कि इस में विट्गें-श्टाइन के अतिक्रान्त नैतिकता विषयक विचारों को बहुत सरल और व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया गया है। किन्तु उन्होंने इस सिद्धान्त की, या सिद्धान्त के किसी अंश की, न आलोचना की है न उसकी पुष्टि में कोई युक्तियां दी हैं, और न ही इसे कोई गहराई या विस्तार दिया है। आवृत्तियों से बचते हुए और थोड़ा कसाव से लिखने पर इतने पृष्ठों में यह सब सुविधा से किया जा सकता था।

यहां इस लेख की समीक्षा में हम इस पक्ष पर विचार नहीं करेंगे कि इसमें विट्गें-श्टाइन का सिद्धान्त समुचित रूप में प्रस्तुत किया गया है या नहीं, यहां हम प्रसाद जी द्वारा विट्गेंश्टाइन के प्रस्तुतीकरण को सही मानकर प्रस्तुत सिद्धान्त और उस पर प्रसाद जी की आलोचना-समीक्षा के सम्बन्ध में ही संक्षेप में टिप्पणी करना चाहेंगे।

जैसा कि डा. प्रसाद ने प्रतिपादित किया है, विट्गेंश्टाइन के अनुसार जगत् तथ्यों का संघात है, ये तथ्य आगन्तुक होते हैं, भाषा इन तथ्यों का कथन करती है और इससे अधिक वह जो करती है वह निरर्थक और अव्यापारेषुव्यापार होता है। किन्तु जगत् का अर्थ, उसका तात्पर्य (सेंस) जगत् से बाहर, उस से अतीत रहता है, परिणामतः भाषा से भी अतीत रहता है। जो तथ्यात्मक और इस प्रकार आगन्तुक नहीं है वह या तो अतथ्य है, जैसे निगमना-त्मक तर्क की प्रतिज्ञप्तियां, अथवा तथ्यातीत, जैसे मूल्य। मूल्य तथ्य नहीं हैं क्योंकि, और बातों के अतिरिक्त, वे निरपेक्ष और अनिवार्य-स्वाभाव होते हैं। इसी से ये भाषा के विषय भी नहीं होते, दूसरे शब्दों में, ये भाषातीत होते हैं। इसी प्रकार एक और (वस्तु) है जो जगत् और भाषा से अतीत है, वह है आत्मा। वह स्वरूपतः विषयी और इस प्रकार अविषय है। मूल्य, शुभाशुभ, इस विषयी के माध्यम से ही आविर्भूत होते हैं। (पृ. 11) इस

+ ज. इ. का. फि. रि., अंक 7/1.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रकार तीन तत्त्व हैं जो जगत् और भाषा से अतीत कहे जा सकते हैं : जगत् का या तथ्य का अर्थ, विषयी और मूल्य । इसके अनन्तर डा. प्रसाद विट्गेंश्टाइन का एक और महत्त्वपूर्ण प्रतिपादन सम्मुख लाते हैं; वह यह कि विषयी विचारस्वरूप नहीं होकर संकल्पस्वरूप है, यद्यपि वे उसे विचारस्वरूप नहीं मानकर भी ज्ञान-समर्थ (और सम्भवतः ज्ञानस्वरूप भी) मानते हैं ।('ज्ञान' से विट्गेंश्टाइन का अभिप्राय विषयात्मक ज्ञान के बजाय प्रज्ञा होना चाहिए।) अब, मूल्यों के विषयिमूलक होने से मूल्य भी संकल्प के विषय होते हैं, अधिक उपयुक्त शब्दों में कहें तो कहना होगा, ये संकल्पोद्भूत होते हैं । विषयी विट्गेंश्टाइन के अनुसार वैयक्तिक है, परिणामतः समाज उसके अनुसार मनोदैहिक, बल्कि कहें जैव, वस्तुओं का संघात और इस प्रकार तथ्य मात्र है । परिणामतः नैतिकता के लिए समाज अप्रासंगिक है ।

मूल्यों के पूर्णतः अतिक्रामी और निरपेक्ष होने के लिए यह अनिवार्य है कि संकल्प कहीं और किसी भी प्रकार से जगत् के सपर्क में नहीं आयें, इसलिए वे संकल्प की क्रियान्विति को भी नैतिकता का विषय नहीं मानते, क्योंकि उसकी क्रियान्विति जगत् में ही हो सकती है । वे निरपेक्ष मूल्य के उदाहरणों के रूप में तीन अनुभवों का उल्लेख करते हैं : 1. जगत् के होने मात्र पर विस्मय, 2. पूर्ण निश्शंकता, अथवा कहें परिणाम मात्र के प्रति निश्चितता का भाव, और 3. अपराध-बोध (गिल्ट–फ़ीलिंग) । डा. प्रसाद ने प्रथम दो की व्याख्या विट्गेंश्टाइन के शब्दों में प्रस्तु की है । इस व्याख्या के अनुसार ये अनुभव नितान्त विलक्षण प्रकार के और अतएव भाषा में अनभिव्यजनीय, अथवा कहें उसकी कथन-सामर्थ्य से अतीत होते हैं । परिणामतः ये निरपेक्ष और अतिक्रामी, और इसीलिए श्रेयात्मक होते हैं ।

जगत् के अस्तित्व में होने में विस्मय कैसे अतिक्रामी और निरपेक्ष है ? प्रथम इसलिए कि विस्मय की भाषीय अभिव्यक्ति के लिए उपमा का आश्रय अनिवार्य है : विस्मयजनक वह होता है जो कुछ बातों में किसी अन्य या अन्यों के अनुरूप हो किन्तु कुछ दूसरी बातों में असाधारण हो, जैसे किसी कुत्ते को छः फुट ऊंचा देखकर हमें आश्चर्य होगा । किन्तु जगत् किसी भी रूप में किसी भी अन्य जैसा नहीं है । दूसरे, जिस का अनस्तित्व कल्पनीय हो और तब हम उसके अस्तित्व में होने पर आश्चर्य करें । किन्तु जगत् का अनस्तित्व भी अकल्पनीय है । इन दो कारणों से जगत् के अस्तित्व में विस्मय भाषा के लिए अवाच्य है । इसी प्रकार विट्गेंश्टाइन सर्वपरित्याग–भाव, ताटस्थ्य-भाव की बात भी करते हैं । उनके अनुसार संकल्प की श्रेयस्ता जगत् के प्रति ताटस्थ्य-भाव सिद्ध कर प्राप्त की जा सकती है । इस ताटस्थ्य का अर्थ है जगत् को प्रभावित करने की कामना का परित्याग ।

यही सारांशतः इस लेख में प्रस्तुत विट्गेंश्टाइन का नैतिकताविषयक सिद्धान्त है । जगत्–अतिक्रान्तताविषयक इस सिद्धान्त की स्पष्ट अनुरूपता सांख्य-गीता से और कांट से है । डा. प्रसाद ने इन दोनों में से किसी का भी नाम नहीं लिया है । इसके विपरीत उन्होंने वेदान्त का दो-तीन बार उल्लेख किया है जिससे इसकी कोई अनुरूपता नहीं है । विट्गेंश्टाइन वास्तव में सांख्य और कांट के बीच में पड़ते हैं । उनका द्वैतवाद बहुत कुछ सांख्य जैसा है : जगत् उनके लिए प्रतिभास (फिनॉमिनन) नहीं है बल्कि प्रकृति-तत्त्व है । इसी प्रकार अतिक्रांत

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अद्वय सत् और येन-केन प्रकारेण जगत् के अस्तित्व के लिए उत्तरदायी नहीं है, न जगत् अतिक्रान्त विषयि-तत्त्व पर उपाधिभूत है, बल्कि विषयी नितान्त केवली है, जैसाकि उसकी जगत् के अस्तित्व में विस्मय और औदासीन्य अथवा परित्याग (रिनंसियेशन) की अवधारणाओं के प्रतिपादन से (पृ. 19–24) देखा जा सकता है। डा. प्रसाद ने इस विस्मय की अनुरूपता वेदान्ती के असत् जगत् की विद्यमानता से उत्पन्न विस्मय से की है। किन्तु विट्गेंश्टाइन के लिए जगत् असत् नहीं है। कांट से उनकी अनुरूपता आत्म को नैतिक संकल्प के रूप में और जगत् के सीमांकन द्वारा तथा नैतिक संकल्प की प्रागपेक्षा के रूप में परिभाषित करने में है। ये अनुरूपताएं दिखाने में हमारा मन्तव्य विट्गेंश्टाइन की मौलिकता को कम कर के दिखाना नहीं है, किन्तु उनका प्रतिपादन इनकी तुलना में नितान्त अपर्याप्त, नितांत असमीचीन और विपन्न है यह तो स्पष्ट है ही।

यहां हम विट्गेंश्टाइन के सिद्धान्त की पांच आधारभूत मान्यताओं की संक्षेप में आलोचना करना चाहेंगे। प्रथम, भाषा विषयक, दूसरी, जगत् विषयक, तीसरी, समाज विषयक, चौथी, मूल्य की निरपेक्षता विषयक और पांचवीं, नैतिकता की अतिक्रान्तता विषयक।

1. भाषा को विट्गेंश्टाइन तथ्य-कथन तक सीमित मानते हैं, बल्कि और आगे उसे तथ्यों का चित्र मानते हैं। बाद मे फिलोसोफीकल इन्वेस्टीगेशंस् में उन्होंने स्वयं भी अपना यह मत छोड़ दिया था यद्यपि हम उस मत से, उसकी मूल दृष्टि से, भी सहमत नहीं हैं। किन्तु यहां हम उनके पूर्व मत तक ही अपने को सीमित रखेंगे। इस मत का दोष हमारे विचार में यह है कि इसमें भाषा को नितान्त विपर्यस्त रूप में देखा गया है। इस मत के अनुसार भाषा नितान्त जगदभिमुख है जबकि वास्तव में भाषा जगत् को अपनी ओर अभिमुख और अपने में समाहित करती है। भाषा की इस प्रकृति का विवेचन हमने इसी अंक में पीछे संकलित लेख 'भाषा' में किया है। अपनी इस विपर्यस्त दृष्टि के कारण ही विट्गेंश्टाइन "जगत् के अनस्तित्व" को अकल्पनीय और इस प्रकार अवाच्य कह रहे हैं। इसे अकल्पनीय कहने के पीछे कल्पना के सम्बन्ध में यह धारणा ही हो सकती है कि कल्पना प्रत्यक्ष के उपादान से ही निर्मित होती है। यदि ऐसा हो तो जगत् के अस्तित्व में विस्मय अतिक्रामी रूप से भी नहीं हो सकता, क्योंकि जगत् पर विस्मय के लिए उसका ग्राह्य होना आवश्यक है और वह प्रत्यक्ष-ग्राह्य नहीं तो उसे कल्पना-ग्राह्य होना चाहिए। अब, कल्पना प्रत्यक्षमूलक भी हो सकती है और शुद्ध रूप से सर्जनात्मक भी हो सकती है। और वास्तव में भाषा की ऐसी अभिव्यक्तियों जैसी "यदि जगद् होता ही नहीं तो!" को इसी रूप में समझा जा सकता है। इन्हें भाषातिक्रामी मानना युक्त नहीं है।

2. (क) भाषाविषयक इस अवधारणा की विपर्यस्तता तथ्य और जगद्विषयक उनकी अवधारणा की भ्रान्तता से भी देखी जा सकती है। उनके अनुसार जगत् तथ्य-संघात है और तथ्य आगन्तुक होते हैं। किन्तु तथ्य क्या है। तथ्य उनके अनुसार वस्तु-संघात है, आणविक है और अस्तित्ववान् है। (द्रष्टव्य ट्रक्टेटस लोजीको फिलोसोफ़ीकस, 1–201) अब,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

यदि यह मान लें तो मनुष्यकृत वस्तुएं तथ्यों की श्रेणी में नहीं आयेंगी : चित्र, मूर्ति आदि ही नहीं घर, घट आदि भी तथ्यों में अपचेय वस्तुएं नहीं हो सकतीं। थोड़ा गहराई से देखा जाए तो ये शुद्ध सृजनात्मक कल्पनाओं की, ऐसी कल्पनाओं की जिनका उपादान ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं है, उदाहरण कही जा सकती हैं।[1]

2. (ख) तथ्यों को विट्गेंश्टाइन आगन्तुक भी कहते हैं और अस्तित्ववान् भी। किन्तु जो अस्तित्ववान् है और यह होना उसकी तथ्यता का अनिवार्य धर्म है वह आगन्तुक कैसे होगा? क्योंकि ऐसा कुछ भी जो अस्तित्ववान् है वह तब तक आगन्तुक नहीं हो सकता जब तक वह नहीं हुए होने अथवा अन्यथा हुए होने अथवा हुए होने की संभावनाओं से अनुप्रविष्ट नहीं हो। ये दोनों संभावनाएं उसके अस्तित्व को स्वायत्त और ठोस नहीं रहने देतीं, बल्कि उसे उस चेतना के जगद्भाव में रूपान्तरित कर देती हैं जो इस भाव को निरस्त भी कर सकती है।[2] अन्यथा जो है वह तो है ही, उसके आगन्तुक होने का प्रश्न कैसे उत्पन्न हो सकता है? यदि कहें कि वह पहले नहीं था और न पीछे होगा, यहां है और वहां नहीं है, तो भी स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आता, क्योंकि अतीत और अनागत का अस्तित्व नहीं होता और वे अनस्तित्व और अतएवं अतथ्य होने से न तथ्य के घटक हो सकते हैं न उसे प्रभावित ही कर सकते हैं। ऐसा नहीं है कि विट्गेंश्टाइन अतीत और अनागत तथ्यों को तथ्य नहीं मानते, किन्तु यह विचारणीय तो है ही कि कोई आणविक तथ्य अतीत या अनागत कैसे हो सकता है और हो भी तो भी वर्तमान तथ्य आगन्तुक कैसे हो सकता है, और अतीत और अनागत संभाव्य कैसे हो सकते हैं? तथ्य के आगन्तुक होने के लिए उसका अभाव और अन्यथाभाव की संभावनाओं से अनुप्रविष्ट होना आवश्यक है और इन संभावनाओं से वह तभी अनुप्रविष्ट हो सकता है यदि वह चेतना द्वारा उत्सृष्ट हो, अपेक्षी चेतना का विषय हो।

3. समाज को विट्गेंश्टाइन ने जैव पदार्थ (तथ्य या वस्तु (?) अथवा कहें जैव देह-समूह) के रूप में देखा है। समाज के सम्बन्ध में इससे अधिक भ्रान्त दृष्टि कहीं और मिलना कठिन होगा। ऐसा आत्म को नितान्त अतिक्रामी और जगत् को नितान्त प्राकृतिक और समाज को जागतिक मानने के कारण है। किन्तु तब व्यक्ति क्या है? आत्मा या प्रकृति? इस दृष्टि से वह भी नितान्त प्राकृतिक और इस प्रकार तथ्य या तथ्य-संघात ही होगा। और समाज और जुटिलतर तथ्य-संघात होगा। विट्गेंश्टाइन के अनुसार विषयी न देह है, न मनस् और न जीव (सोल), वह नितान्त अतिक्रामी है। किन्तु तब व्यक्ति विषयी है या नहीं? ऐसा नहीं है कि व्यक्ति देह और मनस् में अवतरित विषयी भी है और अतिक्रामी विषयी भी और इसी प्रकार संस्कृति भी अतिक्रामी और अवतार दोनों होती है? निश्चय ही नैतिकता के लिए समाज का सन्दर्भ अनिवार्य नहीं है, किन्तु समाज के लिए नैतिकता अनिवार्य है। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि व्यक्ति और समाज दोनों नैतिक सत्ताएं हैं, फिर चाहे

1. द्रष्टव्य, यशदेव शल्य, 'मनुष्य और जगत्'' में संकलित ''मनुष्य और जगत्'' लेख।
2. वहीं, ''आत्म और अनात्म लेख।''

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

नैतिकता को अतिक्रामी अर्थ में लें या अतिक्रान्तता को लक्षित करने, उसका का अन्वेषण करने के अर्थ में।

यहां सांख्य से तुलना स्थाने होगी : सांख्य जबकि पुरुष (विषयी) को नितान्त अतिक्रामी मानता है, जगत् को वह नितान्त प्राकृतिक नहीं मानता, वह उसे पुरुष-सम्बद्ध प्रकृति, अधिक ठीक शब्दों में पुरुष-लक्षी प्रकृति, मानता है[3] और नैतिकता का स्थान इसी लक्ष्य में, अतिक्रमण की पर्येषणा में, देखता है। जगत्–विषयक इस दृष्टि से विट्गेंश्टाइन की सर्व-परित्याग ओर असंपृक्तता की अवधारणा में देखी गई उस कठिनाई का भी समाधान हो जाता है जिसकी ओर राजेन्द्रप्रसाद जी ने संकेत किया है किन्तु कोई समाधान नहीं दिया है। डा. प्रसाद प्रश्न करते हैं, और ठीक ही कि, "यदि संकल्प नितान्त अतिक्रामी होने से जगद्व्यापार से संबन्धित नहीं हो सकता तब उससे जगत् के परित्याग की अथवा असंपृक्तता की अभिवृत्ति रखने की अपेक्षा कैसे की जा सकती है ?" विट्गेंश्टाइन की व्यवस्था में निश्चय ही नहीं की जा सकती। यहां जो विशेष रूप से उल्लेखनीय बात है वह यह कि विट्गेंश्टाइन इन तीनों अनुभवों की श्रेयात्मकता का स्रोत इनकी अतिक्रान्तता को, अतिक्रान्तता का स्रोत भाषा द्वारा अवाच्यता को, और अवाच्यता का स्रोत भाषा की नितान्त जगदुन्मुखता, अथवा कहें जगत्तंत्रता को, मानते हैं। निश्चय ही यह दृष्टि पूर्ण संन्यासवाद जैसी ही है किन्तु बहुत सी आधारभूत प्रतिपत्तियों को बिना किसी व्याख्या के ही छोड़ते हुए।

4. मूल्य की निरपेक्षता से विट्गेंश्टाइन का क्या अभिप्राय है ? इसका कोई स्पष्टीकरण इस लेख में विट्गेंश्टाइन की ओर से प्रस्तुत नहीं किया गया है सिवाय ऊपर उल्लिखित तीन अनुभवों के उदाहरणों के। किन्तु यदि इनकी विट्गेंश्टाइन द्वारा प्रस्तुत व्याख्या और डा. प्रसाद द्वारा दिये गए उसके विवेचन को ध्यान से देखें तो हम पायेंगे कि इनकी निरपेक्षता इनकी भाषोत्तरता से निगमित की गई है, भाषोत्तर निरपेक्षता से नहीं। अब, "जगत् के होने की विस्मयात्मकता" में मूल्यवत्ता, वह भी नैतिक श्रेयोमयता के अर्थ में, क्या है ? इसका कोई उत्तर विट्गेंश्टाइन के विवेचन में नहीं मिलता, सिवाय इसके कि उन्होंने इस अनुभव को इस प्रकार निरूपित किया है कि यह मनोवैज्ञानिक नहीं रह कर अतिक्रान्त हो जाता है। डा. प्रसाद ने इसके विवेचन में एक निरपेक्ष मूल्य का और दो सापेक्ष मूल्यों के उदाहरण दिये हैं। सापेक्ष मूल्यों के उदाहरण हैं :

1. किसी अनुभव की सुखदता से उसे शुभ कहना और 2. किसी वस्तु का मूल्य किसी मानदंड से निर्धारित करना, जैसे, वह अच्छा गायक है, वह अच्छी कुर्सी है। यहां कुर्सी का अच्छापन इस कुर्सी से बाहर कल्पित या स्थिर किये गए किसी मानदंड का सापेक्ष है और इसी प्रकार किसी गायक का अच्छा होना भी। निरपेक्ष मूल्य के रूप में वे "दुर्भावना पूर्ण (मैलिश्यस) झूठ कहना" का उदाहरण देते हैं। अब, यहां द्रष्टव्य है कि वे "झूठ बोलने" को निरपेक्षतः अश्रेयोमय सिद्ध करने के लिए उसके साथ "दुर्भावना पूर्ण" विशेषण

---

3. यशदेव शल्य, "सत्ताविषयक अन्वीक्षा" में अ. 4–5 द्रष्टव्य.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

लगाते हैं जो "अश्रेयोमय" का पर्यायवाची जैसा ही है। इस प्रकार "झूठ बोलना" तब "निरपेक्षतः अश्रेयोमय होता है जब वह अश्रेयोमय हो!" तब भी, यदि यहां प्रश्न किया जाय कि दुर्भावना की मूल्यवत्ता (मूल्य-बाधता–अश्रेयोमयता) किसमें है ? मुझे यह स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं है कि सद्भाव की मूल्यवत्ता, श्रेयोमयता, उसमें स्वरूपगत है और इस प्रकार निरपेक्ष है। किन्तु उसके स्वरूप का निरूपण तब भाषातिक्रान्तता से नहीं होगा। किन्तु यहां एक दूसरी बात विचारणीय है, कि क्या सद्भाव के समान दुर्भाव, पुण्य के समान पाप भी अतिक्रान्त की श्रेणी में आ सकता है ? विट्गेंश्टाइन के तीसरे मूल्यानुभव "अपराध-बोध" से प्रतीत होता है कि उनके अनुसार यह निरपेक्षता की श्रेणी में ही आता है। किन्तु किस प्रकार ? अपराध-बोध को अपनी पारमार्थिक प्राज्ञता में अनात्म से अपने संवलित रहे होने का बोध कहा सकता है जो बोध आत्मा को परम श्रेय के रूप में प्रकाशित करता है। किन्तु यह अनात्म को अनात्म रूप में देखने और उसे आत्मा मानते रहे होने के बोध के बिना संभव नहीं है। इसे भाषातिक्रान्तता से व्याख्यायित कर देना मूल्य-बोध के प्रति केवल दृष्टिहीनता का द्योतक ही कहा जा सकता है।

किन्तु डा. प्रसाद ने सापेक्ष मूल्यों के जो तीन उदाहरण दिये हैं उन्हें उतना सहज रूप में सापेक्ष नहीं कहा जा सकता और सापेक्ष होने पर भी उनकी मूल्यवत्ता को सापेक्ष नहीं कहा जा सकता। पहले सुखदता का उदाहरण लें। यदि अनुभव की सुखदता और श्रेयोमयता को दो पृथक् गुण मानें तब तो श्रेयोमयता निश्चय ही सापेक्ष है किन्तु यदि इन्हें पृथक् नहीं मानें अथवा सुखदता को लक्षण मानें तब इसे सापेक्ष कैसे माना जायगा ? उदाहरणतः बौद्ध और सांख्य सुख और श्रेयस् को एकार्थक ही मानते हैं और सुख ही उनके अनुसार निरपेक्ष मूल्य है। किन्तु यदि 'सुख' को 'ऐन्द्रिक अनुकूलतानुभव' के अर्थ में भी लें और उसे ही श्रेयोमय कहें तब इसे दृष्टिहीनता तो कहा जा सकता है किन्तु मूल्य की सापेक्षता कैसे कहा जा सकता है ? जहां तक गायक को अच्छा कहने का सम्बन्ध है, यहां दो बातें द्रष्टव्य हैं। प्रथम तो, यदि "उत्कृष्ट गायकता मानदंड-सापेक्ष है तो यह मानदंड निरपेक्ष हो जायगा; दूसरे, गायक की उत्कृटता तो मानदंड-सापेक्ष होगी गायकता की उत्कृष्टता नहीं, जबकि मूल्य गायकता की उत्कृष्टता है गायक की किसी अन्य से तुलनीयता नहीं। यहां कहा जा सकता है कि "गायन की उत्कृष्टता" कभी पूर्ण नहीं हो सकती इसलिए निरपेक्ष भी नहीं हो सकती। किन्तु यह पुनः निरपेक्षता को मूल्य के ऊपर स्थापित करना है, मूल्य की निरपेक्षता दिखाना नहीं है। अब, यह द्रष्टव्य है कि गायन की उत्कृष्टता की मात्रा गायन की साधना की सिद्धि की मात्रा है जो सिद्धि निरपेक्षतः साध्य होती है। किन्तु इस साधना और उत्कृष्टता या सिद्धि को अतिक्रान्त नहीं कह सकते, अतिक्रान्त यह आत्मा की सिद्धि से सम्बद्ध होने पर ही होती है। किन्तु इस साधना और सिद्धि को विट्गेंश्टाइन के अनुसार नहीं समझा जा सकता, इसे केवल सांख्य या वेदांत के अनुसार ही समझा जा सकता है जिनमें साधना का अर्थ विवेक द्वारा अनात्म को अनात्म के रूप में पहचानने की बुद्धि की स्पष्टता प्राप्त करने का प्रयत्न है।

5. अब मूल्यों की अतिक्रान्तता के सम्बन्ध में। इस अतिक्रान्तता का क्या अर्थ है ? इसके निरूपण के लिए विट्गेंश्टाइन के पास एक ही कसौटी है, कि ये जगत् में दिखायी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

देते हैं या नहीं, ये तथ्य हैं या नहीं ? यदि नहीं तो ये अतिक्रांत हैं, अन्यथा नहीं। किन्तु तब स्वयं विट्गेंश्टाइन के अनुसार भी आत्मा ही एकमात्र ऐसा तत्त्व होना चाहिए जो अतिक्रान्त है, शेष तो उसके अंग से, उसकी अपेक्षा से, ही अतिक्रान्त बनता है। किन्तु ऐसा होने पर भी अतिक्रांतता मूल्य की ज्ञापक या पर्याय नहीं हो सकती, विट्गेंश्टाइनीय अर्थ में अतिक्रांतता :भाषा द्वारा अवाच्यता के अर्थ में: तो मूल्य की वाचक कभी भी नहीं हो सकती। मूल्य आत्मा के अपने साथ अव्यवहितत्व की साध्यता है। दूसरे शब्दों में, आत्म-व्यवहितत्व ही मूल्य-बाध है और इस बाधता का निवारण मूल्य। यह निवृत्ति साधारणतः क्रमिक और आंशिक ही होती है, कम से कम पूर्ण निवृत्ति पर्यन्त, किन्तु इस क्रमारोहण का प्रत्येक चरण मूल्य है। इससे 'प्रतिबद्धता' का अर्थ भी समझा जा सकता है और तब सब मूल्यों के अंततः नैतिक होने का भी। इसमें 'प्रतिबद्धता' का अर्थ होगा "आत्मा का अपने प्रति सच्चा होना," दूसरे शब्दों में, "आत्मा का अपने साथ तदात्म होना।" यह तादात्म्य जब भी और जितना भी सिद्ध हो तब ही और उतनी ही मूल्य-सिद्धि है और इसकी साधना भी मूल्य-सिद्धि है, क्योंकि आत्मा के साथ तादात्म्य की साधना भी इस तादात्म्य को पूर्वापेक्षित करती है।

इससे विट्गेंश्टाइन के इस प्रतिपादन का आशय भी समझा जा सकता है जिसके अनुसार आत्मा (विषयी) विचारात्मक नहीं होकर संकल्पात्मक है। डॉ॰ प्रसाद के लिए यह गम्य नहीं है कि आत्मा विचारात्मक हुए बिना मूल्य का आकलन कैसे कर सकता है और ज्ञानवान् कैसे हो सकता है ? विट्गेंश्टाइन ने भी यह स्पष्ट नहीं किया है कि उनका आशय क्या है। किन्तु वास्तव में यह समझने में कोई कठिनाई नहीं है, यद्यपि विट्गेंश्टाइन की व्यवस्था में इसका अर्थ समझना कठिन है, क्योंकि अतिक्रांत स्वरूप आत्मा के संकल्पात्मक होने या नहीं होने से अन्तर क्या पड़ेगा ? किन्तु यदि आत्मा को साधना की पूर्वापेक्षा और उसकी सिद्धि के रूप में देखें तब उसकी संकल्पात्मकता समझने में कोई कठिनाई नहीं रहती, क्योंकि तब स्वयं यह व्यवधान आत्मा के आत्म-सर्जन—आत्माभिव्यक्ति—के क्रम में आविर्भूत इतरता के सम्बन्ध में अविवेक का परिणाम हो जाता है। जहां तक विचार का सम्बन्ध है वह इस व्यवधान का ही अंग, अथवा कहें इतरता का उपकरण है, जो आत्मोन्मुख वृत्ति में विवेक का साधन भी हो सकता है, किन्तु स्वयं आत्मगत नहीं हो सकता। यहां कहा जा सकता है कि आत्म-मूल के बिना विचार अविवेक का ज्ञापक भी कैसे हो सकता है, क्योंकि आत्मा के उसका मूल हुए बिना उसकी आत्मोन्मुखता और परोन्मुखता एक ही जैसी होगी। अधिक से अधिक उसमें यह भेद हो सकता है कि प्रथम में उसका विषय स्वयं विचार हो और दूसरे में ऐन्द्रिय विषय। इसका उत्तर हो सकता है कि आत्मा का विचार का मूल होना स्वयं न विचारात्मक होना है और न विचार-विषय होना, यह केवल उसका प्रवर्तक होना और प्रवृत्ति का ऐसा लक्ष्य होना है जो विचार पर उसकी सीमाओं और अन्तर्द्वन्द्वों को प्रकाशित कर उसे अपने से ऊपर देखने की सामर्थ्य दे। किन्तु एक साधारण अर्थ में, विचार विचारक के भाव में निष्पन्न नहीं होता : सद्विचार सद्भाव नहीं है, यह विचार कि 'ऐसा नहीं करना चाहिए था' पश्चात्ताप नहीं है, यह अकर्त्तव्य को अकर्त्तव्य के रूप में जानना मात्र है। इस दृष्टि में विचार का स्वरूप उपचारात्मक है। वास्तव में साधारणतः विचार का यही आयाम

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उपलब्ध होता है। किन्तु अपने आत्मोन्मुख आयाम में, जिसे मनन और निदिध्यासन कहा जाता है, जिसे मनीषा कहा जाता है, यह उस अपार मूल्य-राशि का प्रकाशक होता है जिस मूल्य-राशि को आत्मा आत्मसर्जन के द्वारा इतर माध्यम में प्रतिफलित करता है।

यशदेव शल्य

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पुस्तक–समीक्षा

एक ज़रूरी किताब×

'संकट से उन्मोचन तक : गीता का संदेश—श्री अरविन्द की दृष्टि में', एक मर्मी साधक और तत्त्वदर्शी विद्वान् द्वारा स्वयं अपनी उपस्थिति को ओट करके लिखी गई एक ऐसी पुस्तक है जिसे पढ़कर सामान्य जिज्ञासु छात्रों–अध्यापकों के अतिरिक्त वे बुद्धिजीवी भी लाभान्वित हो सकते हैं जिनके बुद्धिजीवन में न तो उस तरह गीता का ही कोई उल्लेखनीय दख़ल हो पाया है, न श्री अरविन्द सरीखे मानीषी का।

मार्क्स के बारे में – उनके 'दास कैपीटल' के बारे में—एक उक्ति बड़ी मशहूर है कि वह दुनिया की सबसे प्रभावशाली किंतु सबसे कम पठित पुस्तक है। मुझे यह बात हमेशा चकित करती रही है कि मार्क्स के विलोम श्री अरविन्द के बारे में भी यह उक्ति आधी ही चरितार्थ क्यों होती है, पूरी क्यों नहीं ? समूचे विश्व की ओर से सोचने वाला यह चिंतक एक सम्प्रदाय विशेष की परिधि से बाहर पढ़ा ही न जाए, व्यापक चर्चा का विषय हो न बने, यह एक ऐसी बौद्धिक बिरादरी में ही संभव है जो कुछ तो परिस्थितिवश और कुछ जानबूझकर भी आत्मनिर्वासन और आत्म-ग्लानि को ही अपनी आधुनिकता का पर्याय मानकर चलता रहा है। निश्चय ही, यह स्थिति अब, बहुत धीरे-धीरे ही सही, बदल रही है और वैचारिक स्वराज की लगभग एक सदी पुरानी अनसुनी प्रकार भी इस तुमुल कोलाहल कलह के बीच सुनाई देने लगी है।

'एस्सेज़ ऑन गीता' श्री अरविन्द के कृतित्व में केन्द्रीय महत्त्व की पुस्तक है, इस तथ्य को रेखांकित करना परम आवश्यक है—उन लोगों के लिए भी, जो आरम्भ ही 'सावित्री' अथवा 'दि लाइफ़ डिवाइन' से करते हैं और उपयुक्त आधार के अभाव में हतोत्साहित हो जाकर अपने पूर्वग्रहों की पीठ थपथपाते हुए श्री अरविन्द को समझने के दायित्व से छुट्टी पा जाते हैं : यह भी इस पुस्तक की गुणवत्ता का एक पक्ष है कि जिन्होंने 'एस्सेज़ ऑन गीता' नहीं पढ़ी है वे इस पुस्तक को पढ़कर—इसकी विवेचना के सेतुबंध की

● फ्राम क्राइसिस टु लिबरेशन : एच. माहेश्वरी, द्वारा, श्री अरविन्द आश्रम, पांडिचेरि, 1987, मूल्य पचीस रुपये.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

बदौलत श्री अरविंद की उस केन्द्रीय कृति को पढ़ने के लिए उत्सुक और उदग्र ही नहीं, कायदे से तैयार भी हो सकते हैं, और जिन्होंने वह पुस्तक पहले कभी पढ़ी है, वे भी इस प्रसादगुण सम्पन्न पुनर्भाष्य को पढ़कर अपने उस अध्ययनानुभव को दुहराने के लिए आवश्यक नया उन्मेष पा सकते हैं। प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक के साथ डॉ. माहेश्वरी की इस पुस्तक ने ठीक यही किया है, इस तथ्य का साभार स्वीकार आरम्भ में ही कर लेना उचित जान पड़ता है।

अपने प्राक्कथन में ही माहेश्वरीजी ने यह स्पष्ट कर दिया है कि गीता से श्री अरविंद का सम्बन्ध अन्य अनुवादकों या भाष्यकारों की अपेक्षा क्यों और किस तरह विलक्षण है। प्रसिद्ध उत्तरपाड़ा भाषण से उन्होंने जो बातें उद्धृत की हैं उन्हें यथावत् ग्रहण करने में हमारी पीढ़ी के शंका—सम्पन्न बुद्धिजीवियों को दिक्कत हो सकती है, किंतु इस मानसिक बाधा को लाँघना ज़रूरी है। बीसवीं सदी के महान् कवि टी. एस. एलियट, जो 'गीता' को 'दान्ते के महाकाव्य के बाद संसार का महान्तम दार्शनिक काव्य' मानते थे—उन्होंने दान्ते पर लिखे अपने प्रसिद्ध निबंध में एक ध्यान देने योग्य बात कही है जिसका उल्लेख यहाँ सटीक और प्रासंगिक होगा। दांते की विलक्षण चाक्षुष बिम्बमाला की व्याख्या के प्रसंग में उनका मन्तव्य है कि दांते को 'विज़न' देखने की सिद्धि थी—और इस सिद्धि पर शंका करना ठीक नहीं है: मध्यकालीन ईसाई धार्मिक जगत् में यह एक सहज स्वीकृत तथ्य था।[1] माहेश्वरी जी ने उक्त उद्धरणों के आधार पर यह मत व्यक्त किया है कि गीतोक्त 'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः' श्री अरविन्द के लिए एक अन्तःप्रमाणित अनुभव का तथ्य था और "विश्वरूप देवत्व की यह साक्षात् अनुभूति ही उनके गीता सम्बन्धी विवेचन को अन्य विद्वत्तामूलक अध्ययनों से एक अलग ही कोटि में प्रतिष्ठित कर देती है।"

किन्तु इसका आशय निश्चय ही यह नहीं है कि प्रस्तुत ग्रंथ 'एस्सेज़ ऑन दि गीता' की सरल सुबोध टीका मात्र है। वह तो एक आनुषंगिक लाभ है और इस नाते उपेक्षणीय भी नहीं है। किंतु उसका महत्त्व पार्श्व संगीत की तरह है। माहेश्वरी जी की अपने प्रतिपाद्य विषय की तल्लीनता में स्वयं अपने को ओट कर सकने की क्षमता—उनकी 'नेगेटिव कैपेबिलिटी'—के फलस्वरूप ही यह पुस्तक पाठक को गीता के उस स्वानुभूति—सम्पन्न और आज की मानवीय परिस्थिति के लिए भी प्रखर रूप से प्रासंगिक मर्म का अवगाहन करने की क्षमता और सुविधा प्रदान करती है। यह स्वानुभूति—सम्पन्नता और परिस्थिति-विवेक से उपजी गहरी मानवीय संलग्नता ही माहेश्वरी जी के इस गीता-भाष्य की मूल प्रेरणा और विशेष अर्हता है।

कालिदास की एक प्रसिद्ध उक्ति के अनुसार 'विकार को परमार्थतः पहचाने बिना उसके प्रतिकार का हर प्रयत्न आरम्भदूषित और अतएव असफल होने को अभिशप्त है।'

---

1. टी. एस. एलियट, सिलेक्टेड एस्सेज, 'दांते'।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

यह पुस्तक दिखलाती है कि किस प्रकार गीता एक प्रत्यासन्न और फिर भी सर्वकालीन मानवीय संकट के भीतर से उद्भूत होती है और किस प्रकार उस संकट के पारमार्थिक निदान और समाधान की प्रक्रिया क्रमशः आगे बढ़ती हुई उसके अट्ठारह अध्यायों की परस्पर गुम्फित संरचना में मूर्त्त हुई है।

अर्जुन का संकट समूची चेतना का बहुआयामी संकट बनकर प्रकट हुआ था। उसकी उलझन सचमुच विकट है: देहेन्द्रिय, मन, प्राण और बुद्धि समेत उसकी समूची सत्ता ही जैसे एक-बारगी संदिग्ध हो गई है, साँसत में पड़ गई है। यह ऐसी साँसत है जिससे कोई भी, कैसा भी मात्र मानवीय हस्तक्षेप उसे नहीं उबार सकता। भागवत सत्ता का साहाय्य ही उसे उबार सकता है और अर्जुन का सौभाग्य यही है कि उसे वह भागवत सत्ता ही सखारूप में उपलब्ध है। इस नर-नारायण-संवाद की गहराइयो में हमें ले जाना ही इस पुस्तक के लेखक का उद्देश्य है। अपने सरलतम और फिर भी दुस्साध्य विकराल रूप में यह समस्या सर्वप्रथम जिस रूप में अर्जुन के सामने आती है वह लेखक के शब्दों में 'सामाजिक असत् और अधर्म की समस्या' है। श्रीकृष्ण उसके समाधान के लिए दीखने में सबसे कठिन मार्ग सुझा रहे हैं: बुद्धियोग का मार्ग। 'वेदमीमांसा' के प्रख्यात रचनाकार श्री अनिर्वाण का हाल ही में एक अंग्रेज़ी लेखों का संकलन प्रकाशित हुआ है जिसका नाम है—'बुद्धियोग ऑफ दि गीता ऐण्ड अदर एसेज़'।[2] योगी और विद्वान् की समवेत भूमिका से लिखी गई इस लेखमाला के अनुसार भी बुद्धियोग गीता का सार-सर्वस्व है। किंतु यह बुद्धियोग पश्चिमी मुहावरे का 'इण्टैलैक्चुअलिज़्म या रैशनलिज़्म नहीं है, 'बुद्धि' की श्री अनिर्वाणकृत व्याख्या से यह स्पष्ट है। किन्तु वैदिक 'धी' और 'मनीषा' से उसे जोड़ते हुए अनिर्वाण उसे मन से ऊपर की शक्ति बताते हैं जिसके मनोवैज्ञानिक ही नहीं, वैश्विक पक्ष भी हैं, और जो 'आत्मा' और आत्मानुभूति के प्रकट होने के लिए एक अनिवार्य साधन अथवा माध्यम है।[3] इस पुस्तक के विवेचन से भी प्रकट है कि गीता में बुद्धि का लगभग यही अर्थ अभिप्रेत है। माहेश्वरी जी यहाँ बुद्धि की दोहरी शक्ति को रेखांकित करते हैं: जानने की और संकल्प की। उनके लिए बुद्धियोग 'योग-बुद्धि' है: उन्हीं के शब्दों में, "गीता का संदेश 'योग' है, न कि मात्र 'मानव-वाद' या 'मानवतावाद' से अभिहित की जाने वाली लोकहित की अवधारणाएं।.... यौगिक जीवन दिव्य जीवन है और उसे किसी ऐहिक मानदण्ड पर नहीं घटाया जा सकता।" (पृ.,16)

तीसरे अध्याय की अपनी विवेचना में लेखक ने 'यज्ञार्थं कर्म', 'लोक-संग्रह', और 'निष्काम कर्म-योग' को समेटते हुए यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि गीता के अनुसार साधक को न केवल निम्नतर से उच्चतर चेतना-स्तरों की ओर अग्रसर होना है, बल्कि अपनी निम्नतर

---

2. बुद्धियोग आफ दि गीता एण्ड अदर एस्सेज़, अनिर्बाण, बिब्लिक इंपेक्स लिमिटेड, अंसारी रोड़, नई दिल्ली, 1983.
3. वही, पृ. 2–3.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रवृत्तियों और शक्तियों को अपनी ही उच्चर बुद्धि के नियंत्रण में लाते हुए अपनी मानव-प्रकृति को, अपने पार्थिव जीवन को भी 'मनसस्तु परा बुद्धिः' और 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' के आध्यात्मिक सत्य के अनुसार ढालना है।

चौथे अध्याय में 'अवतार' की व्याख्या इस पुस्तक के रोचक और विचारोत्तेजक प्रसगों में से एक है। यहाँ मध्यकालीन सनातनी अथवा उत्तरकालीन दृष्टियों से भी श्री अरविंद की दृष्टि का पार्थक्य स्पष्ट देखा जा सकता है। कर्म के निगूढ़ रहस्य का भी यहाँ बहुत विशद प्रतिपादन है और कर्म तथा ज्ञान की समन्वित साधना का भी। कर्म की व्याख्या में माहेश्वरी जी जोर देकर कहते हैं कि 'गीता का यज्ञ वेद का कर्मकांड नहीं है, बल्कि पूरी तरह कर्म के माध्यम से आध्यात्मिक साधना है। किंतु यहाँ पर यह समझना मुश्किल है कि कर्मकांड अथवा अनुष्टान की साधनरूप गुणवत्ता इससे कैसे असिद्ध होती है, विशेषकर तब, जबकि गीताकार स्वयं एक जगह स्पष्ट कहते हैं कि 'विद्वानों को कभी भी सामान्यजन को उलझन में नहीं डालना चाहिए।' अगले अध्याय में सांख्य तथा योग की एकता का, कर्म–सन्यास के अर्थ का तथा 'समं ब्रह्म' का विवेचन किया गया है जिसमें 'ब्रह्मनिर्वाण' की व्याख्या विशेष रूप से उल्लेखनीय है। "ब्रह्म–निर्वाण निश्चय ही जीवन के पक्ष में और जीवन में है, न कि जीवन से परे, और जीवन का अध्यात्मीकरण करने वाला योग ही उसकी कुंजी है।" माहेश्वरी जी की दृष्टि में गीता के शब्द इस विषय में शंका की कोई गुंजाइश नहीं छोड़ते। छठे अध्याय में राजयोग और मध्यमार्गी विवेक का बड़ा सुन्दर विवेचन है और 'युक्त' के मर्म को बहुत सही ढंग से रेखांकित किया गया है। इस अध्याय से गुज़रते हुए पाठक को इस बात की गहरी प्रतीति होती है कि क्यों और किस प्रकार श्री अरविंद के कृतित्व की असली प्रेरणा और आधारभूमि गीता ही बनी। यही नहीं, सातवें अध्याय में अपरा और परा प्रकृति के विभेद पर श्री अरविंद की टिप्पणी न केवल उनकी मौलिकता को सूचित करती है वल्कि वही सम्यक् व्याख्या भी लगती है। इसी प्रकार 'ज्ञानी-भक्त' की अवधारणा पर भी श्री अरविंद का विशेष आग्रह उनकी इस प्रेरणाभूमि को स्पष्ट करता है और लेखक ने इस बात को पहचानने में निश्चय ही हमारी सहायता की है।

श्री अरविंद के अनुसार प्रकृति का सारा प्रयोजन इसी में निहित है कि वह अन्तर्निहित आत्मा की ऊर्जाओं के समुचित प्रस्फुटन-पल्लवन का माध्यम बने। आठवें अध्याय मे 'पुरुषोत्तम' के विचार का पहला संकेत उभरता है जो श्री अरविंद की व्याख्या में सर्वोच्च महत्त्व प्राप्त करता है। नवें अध्याय में सृष्टि के दैवी उद्भव की चर्चा है: अवतारवाद की भी। अकारण नही कि यहां लेखक ने श्री अरविंद की वाणी का अपेक्षाकृत अधिक स्थलों पर आवाहन किया है। लेखक ने गीता के संदेश की सम्प्रदाय-निरपेक्ष सार्वभौमिकता को उजागर करते हुए श्री अरविंद का वह कथन उद्धृत किया है जिसके अनुसार "संसार से हमारा लगाव दर असल हमारा मुखौटा है जिसे परमात्मा के प्रति हमारे लगाव में, अर्थात् सत्य की चाहना में—अर्थात् हमारे असली चेहरे में—उत्तरोत्तर रूपान्तरित होना चाहिए।"

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

'विभूति योग' नामक दसवां अध्याय इस पुस्तक के सर्वाधिक उल्लेखनीय अध्यायों में है। यहां तक आते-आते अर्जुन अगले अध्याय के साक्षात्कार के लिए, अर्थात् 'विश्वरूप-दर्शन–योग' के लिए वह किस तरह पात्रता अर्जित कर चुका है, इसका बड़ा ही मार्मिक विवेचन श्री अरविंद में और इस पुस्तक में भी पाठक को मिलता है। माहेश्वरी जी के शब्दों में—"गीता का योग प्रेरणादायी और प्रगतिशील है। यहाँ हम उत्तरोत्तर सत्य से महत्तर सत्य की ओर, ज्ञान से उच्चतर ज्ञान की ओर, रहस्य से गहनतर रहस्य की ओर, अनुभूति से गहनतर अनुभूति की ओर, तथा इस तरह अंत में परमोच्च दिव्य सत्ता के ज्ञान और अनुभव की ओर दृढ़तापूर्वक और सीधे ढंग से अग्रसर होते हैं। यह सोपान-क्रम इस विवेचन में बहुत अच्छी तरह उद्घाटित हुआ है। भक्तियोग इसकी परिपक्व परिणति की तरह प्रकट होता है और यह बात बहुत मार्मिक और सार्थक ढंग से सामने लाई गई है। ध्यान देने की बात है कि यह भक्ति ईसाई अवधारणा से भिन्न है जिसके अनुसार 'संसार की प्रत्येक वस्तु से लगाव समाप्त हो जाना ही ईश्वर-प्रेम की अनिवार्य पूर्ण प्रतिज्ञा है।'[4] माहेश्वरी जी के शब्दों में "दिव्य भागवत् सत्ता के प्रति भक्ति का अर्थ केवल जीवन से विमुख आंतर-अनुभूति नहीं वह समूचे विश्व के प्रति उमड़ता प्रेम-प्रवाह भी है, क्योंकि वह दिव्य सत्ता विश्वव्यापी भी है।" (पृ० 127)।

अनन्तर तेरहवें अध्याय में 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' का अपेक्षाकृत जटिल विचार बड़े सहज और विशद ढग से प्रस्तुत किया गया है। लेखक के मतानुसार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान मात्र दार्शनिक ऊहापोह न होकर सत्य का साक्षात्कार है। त्रिगुणातीत का अगला विवेचन इसी के नैरन्तर्य में प्रस्फुटित होता है। इसके बाद ही गीता के सबसे महत्त्वपूर्ण प्रसंग (श्री अरविंद के अनुसार) 'पुरुषोत्तम योग' पर प्रकाश पड़ता है। इसे पढ़ते हुए लगता है जैसे इस पुस्तक के लिखे जाने की सबसे बलवती प्रेरणा यहीं से प्राप्त हुई हो। स्वयं लेखक ने पंद्रहवें अध्याय के आरम्भ में हमें बताया है कि "विशुद्ध दर्शनशास्त्रीय बुद्धि के लिए एकाएक निश्चित करना कठिन है कि गीता आख़िर किस एक दृष्टि का प्रतिपादन करती है। यह ख़तरा भी है कि ऐसी बुद्धि इसके मात्र एक वक्तव्य या स्थापना को आधारभूत मानकर दूसरी तमाम बातों को गौण और उपेक्षणीय करार दे दे।" लेखक का अनुभव है कि "यह प्रवृत्ति गीता के अधिकांश भाष्यों में प्रकट हुई है।" स्पष्ट ही वे यहां महात्मा गांधी के "अनासक्ति योग" की गणना भी ऐसी ही एकांगी व्याख्याओं में कर रहे होंगे। परन्तु यदि ऐसा है, तो उनसे सहमत होना कठिन होगा। गीता की महिमा इसी में है कि वह एकाधिक विभूतियों के भीतर से, उनकी अपनी विशिष्ट जीवनानुभूति के भीतर से अपने जीवनदायी अर्थ को उजागर करने में समर्थ है और कोई कारण नहीं कि हम श्री अरविंद की समग्रात्मक

---

4. सेंट जोह्न ऑफ दि क्रॉस (उद्धरण–स्रोत ठीक-ठीक याद नहीं आ रहा) "हेंस दि सोल मस्ट बी डाइवेस्टिड ऑफ दि लव ऑफ आल क्रिएटिड बींग्ज़ इफ इट इज़ टु टर्न टु गॉड" कुछ इसतरह की बात थी।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

व्याख्या से अधिक गहरी सन्तुष्टि प्राप्त करते हुए भी महात्मा गांधी की व्याख्या को एकांगी या अनर्गल मानने को बाध्य हों। संभवतः लेखक का यह आशय है भी नहीं।

माहेश्वरी जी ने इस बात को ज़ोर देकर रेखांकित किया है कि गीता के दिव्य गुरु ने इस विश्व को और इसमें व्याप्त चराचर जीवन को कभी भी कहीं भी असत्य घोषित नहीं किया है। इस बात की पुष्टि में उन्होंने 'ममैवांशो जीव लोके जीवभूतो सनातनः' का एकाग्र और विश्वासोत्पादक विवेचन किया है। सच पूछा जाय तो गीता का सार–सर्वस्व, उसका जीवनदायी संदेश इसी अध्याय में और उक्त श्लोक में ही निहित है : एक तरह की विशिष्टाद्वैती अनुभूति और विचार में। श्री अरविंद इसे आधुनिक खोजों से—विकासवाद इत्यादि से—जोड़कर इसे नया आयाम दे देते हैं (देखें पृष्ठ 154 पर उनकी उद्धृत टिप्पणी) वे यह भी कहते हैं कि "दिव्य सत्ता न तो पूरी तरह क्षर है, न पूरी तरह अक्षर।" वे क्षर और अक्षर को पुरुषोत्तम में जोड़कर एक कर देते हैं। स्वयं गीता के अनुसार यह पुरुषोत्तम योग गुह्यतम शास्त्र है, सब विज्ञानों का विज्ञान, सब सिद्धान्तों का मूल सिद्धान्त। विद्वान् लेखक ने इस पर उचित ही विस्तार से ध्यान केन्द्रित किया है। दैवी-आसुरी सम्पद् और उसी से जुड़ा हुआ 'सत्वानुरूपा श्रद्धा' का विवेचन इसके बाद ही अपनी सार्थकता ग्रहण करता है। उपसंहार तब होता है— 'मोक्ष–संन्यास योग' की व्याख्या में। यहाँ स्वभाव, स्वधर्म और स्वकर्म की सूक्ष्म अवधारणाओं का जैसा सुस्पष्ट और सम्यक् विवेचन श्री अरविंद में मिलता है वैसा संभवतः किसी अन्य भाष्यकार के यहाँ नहीं मिलेगा। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने उसे और भी सहज ग्राह्य तथा विशद बना दिया है। इन्हीं को क्यों, 'ब्रह्म-भाव' के दिव्य संदेश को भी। इसी सिलसिले में 'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत' को—इसमें निहित 'सर्वभावेन' को—श्री अरविंद ने अपनी टिप्पणी में (पृ० 184) जिस जगह और जिस तरह रेखांकित किया है, वह इस पुस्तक के भी समूचे प्रतिपाद्य को देखते हुए विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है।

कुल मिलाकर डॉ० माहेश्वरी की यह पुस्तक एक आवश्यक पुस्तक है जिसका हमारे शिक्षालयों और बौद्धिक हलकों में भी स्वागत किया जाना चाहिए। आमुख से सूचना मिलती है कि मूल रूप से यह पुस्तक, अथवा इसका पूर्व रूप, हिन्दी में पहले ही सुलभ है। फिर भी अंग्रेज़ी में लिखी गई इस पुस्तक की अपनी उपयोगिता है। 'एस्सेज़ ऑन दि गीता' भी अंग्रेज़ी में ही लिखी गई थी। सामान्यतः हम अपने महापुरुषों से यही अपेक्षा स्वभावतः करते हैं कि उनकी आत्माभिव्यक्ति उनकी मातृभाषा के माध्यम से ही होगी। ऐसा न होने पर उनके कृतित्व पर शंका भी होती ही है। परन्तु पता नहीं क्यों श्री अरविंद के साथ यह शंका, यह पूर्वग्रह बहुत जल्दी झड़ जाता है। लगता है, जैसे यदि यह विवशता का तर्क भी था तो भी इसमें कहीं एक गहनतर, उच्चतर अनिवार्यता का संयोग भी काम कर रहा था। ऐसा औचित्य हम इस तरह और लोगों के साथ अनुभव नहीं करते। लगता है, जैसे अंग्रेज़ी को यह सौभाग्य मिलना ही था कि वह इस शताब्दी के एक सबसे मूलगामी मौलिक भारतीय मनीषा की आत्माभिव्यक्ति की माध्यम बनी। यह एक तरह से योरोपीय भाव-बोध की संवादक भाषा को एक सर्वाधिक भिन्न भाष-बोध की संरचना में ढालने का अभूतपूर्व प्रयत्न

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

और अभूतपूर्व घटना थी जिसके दूरगामी परिणाम संभव हैं क्योंकि संस्कृति का सब से आंतरिक प्रतिरोध भाषा में ही निहित होता है और सबसे अननुवाद्य वैशिष्ट्य उसके काव्य और दर्शन में। स्पष्ट ही, इस स्तर पर प्रतिरोध का गलना और अनुभव का अचूक संप्रेषित होना किसी चमत्कार से कम नहीं। मनुष्य-जाति की एकता के लिए इससे बड़ा आशा का आधार और भला क्या हो सकता है ?

श्री अरविंद आश्रम के प्रकाशन अपने सुरुचिपूर्ण और परिशुद्ध प्रस्तुति के लिए सराहे जाते रहे हैं। मूल्य भी कम रहता है। प्रस्तुत पुस्तक भी सुन्दर और सुरुचिपूर्ण ढंग से छापी गई है। किन्तु कुछ छापे की भूलें (जैसे दसवें अध्याय में attunement की जगह सर्वत्र atonement) खटकने वाली हैं। सौभाग्यवश ऐसी भूलें बहुत कम हैं।

रमेशचन्द्र शाह
3/2 प्रोफेसर्स कोलोनी
भोपाल—462002

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

नागार्जुनकृत मध्यमकशास्त्र और विग्रहव्यावर्तनी: युक्तिपरीक्षा और सिद्धान्तविमर्श, लेखक—यशदेव शल्य, पृ. सं. १२४, मू. रु. ८०/–, प्रकाशक - भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्, नई दिल्ली, १९८९. (विक्रेता-मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली).

प्रस्तुत पुस्तक प्रसिद्ध दार्शनिक श्री यशदेव शल्य की माध्यमिक बौद्ध संप्रदाय-सम्बन्धी समालोचनात्मक नवीनतम मौलिक कृति है। इससे पूर्व शल्य जी की मनस्तत्त्व, दार्शनिक विश्लेषण, ज्ञान और सत्, संस्कृति, विषय और आत्म, मनुष्य और जगत् तथा सत्ताविषयक अन्वीक्षा पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं जो मौलिक दार्शनिक कृतियों के रूप में प्रतिष्ठित हैं। इन पुस्तकों के अतिरिक्त शल्य जी अनेक दार्शनिक पत्रिकाओं और पुस्तकों के सम्पादक के रूप में भी भारतीय दार्शनिकों में सुपरिचित हैं। जैसाकि इस पुस्तक के शीर्षक से स्पष्ट है, नागार्जुन के प्रसिद्ध दो ग्रंथों में उपनिबद्ध तर्कों पर शल्य जी ने इस पुस्तक में विस्तृत विचार किया है। साथ ही इन तर्कों पर जिन अन्य विचारकों ने विचार किया है उनके अनुकूल-प्रतिकूल तर्कों पर भी विचार प्रस्तुत कर शल्य जी ने अपना स्वतंत्र निष्कर्ष उपस्थित किया है। शल्य जी को नागार्जुन के तर्क स्वीकार्य नहीं हैं। वे नहीं मानते कि शून्यता का निष्कर्ष, इसे यदि निष्कर्ष कहा जाय तो, नागार्जुन तथा उसके व्याख्याकार चन्द्रकीर्ति के तर्कों से प्राप्य है। वे यह भी नहीं मानते कि माध्यमिक दर्शन के अर्वाचीन समीक्षक टी. आर. वी. मूर्ति, श्चर्बाट्स्की, तथा गोविन्दचन्द्र पांडे आदि (हर्षनारायण को छोड़कर) शून्यता का जो अर्थ निकालते हैं वह युक्तिसंगत है। वे शून्यता के भारतीय दार्शनिक परंपरा द्वारा पुरस्कृत अर्थ को ही तर्कसंगत समझते हैं। अपने स्वतंत्र विचार तथा निष्कर्षों के समर्थनार्थ शल्य जी ने माध्यमिक कारिका में नागार्जुन द्वारा चर्चित सभी विषयों से संबंधित नागार्जुन तथा चन्द्रकीर्ति की युक्तियों के विरुद्ध प्रतियुक्तियां प्रस्तुत की हैं जो मननीय हैं। विग्रह-व्यावर्तनी की प्रथम युक्ति की भी उन्होंने एक स्वतंत्र अध्याय में विस्तार से परीक्षा की है। नागार्जुन के सम्बन्ध में ऐतिहासिक तथा कुछ अन्य प्रकार की जानकारी, जो बहुत अपेक्षित होते हुए भी शल्य जी ने अपनी चर्चा के सन्दर्भ में प्रस्तुत नहीं की है उसे प्रोफेसर गोविन्द-चन्द्र जी पांडे ने अपनी भूमिका में विस्तार के साथ प्रस्तुत कर दिया है। इस भूमिका के सम्बन्ध में यह बताना आवश्यक है कि शल्यजी ने पुस्तक में जिस वैचारिक दृष्टिकोण का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

समर्थन किया है पांडे जी का मत उसके अनुरूप नहीं है। भूमिका-लेखक नागार्जुन की युक्तियों को अस्वीकार्य नहीं समझते, जैसाकि शल्य जी का मन्तव्य है। इन युक्तियों के सम्बन्ध में यह समझना आवश्यक है कि उनके विषय अनेकानेक होते हुए भी और ये युक्तियां आपाततः भिन्न होने पर भी इन का मूल रूप एक ही है। इस रूप को 'प्रतीत्यसमुत्पाद' शब्द से निर्दिष्ट किया जा सकता है। जो प्रतीत्यसमुत्पन्न है या स्व-भिन्न वस्त्वपेक्षी है वह स्व-भाव-युक्त नहीं है। (तत्तत्प्राप्य यदुत्पन्नं नोत्पन्नं तत्स्वभावतः)। जो स्वभाववान् नहीं वह पर-भाववान् भी नहीं है। स्वभाव और परभाव इन दोनों से जो वियुक्त है वह भाव ही नहीं हो सकता। इस प्रकार वस्तुमात्र को निस्स्वभाव सिद्ध करना माध्यमिक तर्कों का मुख्य लक्ष्य है। वैसे तो 'सिद्ध करना' यह शब्द-प्रयोग माध्यमिक तर्कों के लिए उपयुक्त नहीं है क्योंकि माध्यमिक स्वयं कुछ भी सिद्ध नहीं करते। जो कुछ अन्य मतावलंबी सिद्ध करने का प्रयास करते हैं उसकी आत्मविसंगति को ही माध्यमिकों के तर्क उद्‌घाटित करते हैं। माध्यमिकों की अपनी कोई स्वतंत्र प्रतिज्ञा या प्रतिपाद्य नहीं है (यदि कांचन प्रतिज्ञा स्यात् स्यान्मम उपालंभः)। विभिन्न मतों की परस्पर विरोधी भूमिकाओं की सहायता लेकर ही माध्यमिक अन्य मतों की सदोषता प्रदर्शित करते हैं। जैसे न्याय का खंडन सांख्य-मतानुसार, सांख्य का खंडन न्याय-मतानुसार, इनके समुच्चय का खंडन इनकी परस्पर विरुद्धता के आधार पर प्रस्तुत कर माध्यमिक स्वयं सभी मतमतांतरों से बिल्कुल अछूता रहता है। यहां प्रश्न हो सकता है कि यदि अन्य मत सदोष हों और उनकी सदोषता के मूल में वस्तुमात्र की प्रतीत्यसमुत्पन्नता या परस्परापेक्षता हो तो अपनी माध्यमिक कारिका के मंगलाचरण में नागार्जुन ने प्रतीत्यसमुत्पाद को अनिरोध, अनुत्पाद, अनुच्छेद्य, अशाश्वत जैसे अभाव-बोधक विशेषणों का प्रयोग कर सब प्रकार के धर्मों से विरहित कैसे बताया जबकि वस्तुओं की परस्पर सापेक्षता ही उन पर सब प्रकार के धर्मों के आरोपों का कारण है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि प्रतीत्यसमुत्पाद या सापेक्षता, जो वस्तुमात्र में उपलब्ध होती है, वह उनकी स्वभाव-शून्यता अथवा शून्यता का ही मूल है। यह शून्यता ही विश्व का वास्तविक रूप या तत्त्व है। इसमें उत्पत्ति, विनाश आदि कोई अवस्था या धर्म नहीं हो सकते। अतः 'प्रतीत्यसमुत्पाद' शब्द से शून्यता का ग्रहण कर उसी में उक्त अभाव-बोधक विशेषणों का लागू मानना उपयुक्त होगा।

नागार्जुन की युक्तियों के खंडन का जो प्रयास शल्यजी ने किया है वैसा प्रयास आज तक किसी दार्शनिक ने नहीं किया। अन्य बौद्ध-संप्रदायों की क्षण-भंगवादी, विज्ञानवादी आदि युक्तियों के निरास के लिए अवश्य आस्तिक दार्शनिकों ने न्यायवार्तिक, आत्मतत्त्व-विवेक जैसे विशाल तर्ककर्कश ग्रंथों की रचना की किन्तु माध्यमिकों के खंडन के लिए एक छोटे प्रकरण-ग्रंथ की भी किसी आस्तिक दार्शनिक ने रचना नहीं की यह बड़ी विस्मयजनक बात है। हो सकता है कि प्रतीत्यसमुत्पाद के सामान्य तर्क का इन दार्शनिकों की दृष्टि में कोई महत्त्व न हो। किन्तु शल्य जी ने प्रतीत्यसमुत्पाद के तर्क को स्वीकार कर भी उसके विविध प्रयोगों के सम्बन्ध में आपत्तियां उठायी हैं। हमारे विचार में 'प्रतीत्यसमुत्पाद' की बात यदि मान ली जाय तो उसके आधार पर नागार्जुन ने कार्य-कारणभाव आदि के जो खडन प्रस्तुत किये हैं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उनसे नहीं बचा जा सकता। इस बात के स्पष्टीकरण के लिए हम शल्य जी के कुछ तर्कों की यहां विस्तार से चर्चा कर यह दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि नागार्जुन की युक्तियों का ठीक आकलन किया जाय तो उन पर लगाए गए आक्षेप अधिकतर सतही हैं ऐसा प्रतीत होगा। प्रत्यय-उत्पाद-संबंधी युक्तियों को लें जिन्हें शल्य जी अतिचारपूर्ण कहते हैं। इन युक्तियों में शल्य जी के अनुसार "न स्वतः उत्पादवादियों के आशय का ध्यान रखा गया है न परतः उत्पादवादियों के। वास्तव में साधारण रूप से कार्य-कारण-सम्बन्ध की व्याख्या में विभिन्न प्रकार के उदाहरणों को एक ही प्रकार में संगृहीत कर दिया जाता है और उससे बहुत भ्रांति होती है। उदाहरणतः तिल से तेल एक प्रकार का उदाहरण है, इन्धन से अग्नि दूसरे प्रकार का, दूध से दही तीसरे प्रकार का और आघात से व्रण चौथे प्रकार का, व्रण से वेदना पांचवें प्रकार का।"

यह सही है कि ये उदाहरण एक जैसे नहीं हैं। यदि ये एक जैसे होते तो ये सब किसी एक ही कार्य-कारण-सिद्धान्त के अनुकूल होते। कोई भी सिद्धान्त अपने अनुकूल उदाहरण को निदर्श (मॉडल) मान कर उसके आधार पर ही अन्य उदाहरणों को समझने का प्रयास करता है। जैसे दूध से दही बनने का उदाहरण सत्कार्यवाद के लिए बहुत अनुकूल है और आघात से व्रण का उदाहरण उसके लगभग प्रतिकूल है। अतः सत्कार्यवाद के पुरस्कारक आघात से व्रण की उत्पत्ति को सत्कार्यवाद के ढांचे में बैठाने का प्रयत्न करेंगे। जितने भिन्न उदाहरण उतनी भिन्न उपपत्तियां ऐसा कभी नहीं हो सकता। आगे शल्य जी कहते हैं (पृ.33) कि "किसी भी सर्जन का यह तत्त्व है कि यह असत्पूर्वक ही होता है और उसका उपादान सर्जक स्वयं होता है और वह स्वयं उत्पाद-क्रिया के साथ ही सृष्ट होता है। स्पष्टतः नागार्जुन या चन्द्रकीर्ति का आक्षेप इस पर लागू नहीं होता।" यह कथन असत्कार्यवादी शायद मानले किन्तु वह भी सर्जक को कार्य का उपादान नहीं कहेगा, सत्कार्यवादी तो सर्जन को 'असत्पूर्वक' कभी भी नहीं कहेगा। इस प्रकार उक्त वर्णन न सत्कार्यवाद को न असत्कार्य-वाद को ही ठीक ठीक लागू होता है। नागार्जुन का सत्कार्यवाद पर आक्षेप बिल्कुल सीधा-सादा है। यदि कार्य है ही तो वह अपना उत्पादन कैसे और क्यों कर करेगा ?

अहेतुवाद पर नागार्जुन की आपत्ति यह है कि इस मत का स्वीकार करने से सर्व-दर्शनसम्मत कार्य-कारण भाव के सिद्धान्त का विरोध होगा और अहेतुक गगनकमल के वर्ण और गन्ध के समान जगत् भी गृहीत नहीं होगा। इस पर शल्य जी कहते हैं कि "इनमें पहला तर्क स्पष्टतः बेतुका है क्योंकि सर्वदर्शन-सम्मत हेतुवाद को वे स्वयं भी कहां स्वीकार करते हैं ?........इसलिए केवल दूसरी युक्ति शेष रहती है कि इससे जगत् आकाश-कुसुमवत् सिद्ध होगा। किन्तु यह अयुक्त उपमा है क्योंकि "आकाशकुसुम" पद वदतोव्याघात रूप में देखा जाता है।" क्या शल्य जी के ये दोनों आक्षेप विचारार्ह हैं ? नागार्जुन का अपना कोई भी मत नहीं है। अहेतुवाद का खंडन नागार्जुन ने हेतुवाद का पुरस्कार कर किया है यह माध्यमिक दर्शन से ईषत् भी परिचय रखने वाले व्यक्ति को कहने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। अतः नागार्जुन के पहले प्रतिवाद का यही अभिप्राय होगा कि सभी अमाध्यमिक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

विचारक हेतुवादी ही होते हैं जो अहेतुवाद का किसी भी हालत में पुरस्कार नहीं कर सकते।

नागार्जुन की दूसरी आपत्ति में भी कोई अनौचित्य नहीं है। 'आकाशकुसुम' पद तो व्याघात-रूप भले ही हो उसका प्रयोग यहां और अन्यत्र भी असत् वस्तु के लिए किया जाता है। अतः जैसे असत् आकाशकुसुम के वर्ण, गन्ध आदि की बात करना अर्थ-शून्य है वैसे ही अहेतुक जगत्, जो असत् ही होगा, के सम्बन्ध में कुछ भी कहना असंगत या वदतो-व्याघात रूप ही होगा। परतःउत्पादवाद पर नागार्जुन की आपत्ति यह है कि कार्य से पर जैसे उसका कारण होता है वैसे ही अकारण वस्तुएं भी होती हैं, किन्तु पर होने से उन्हें कारण नहीं माना जाता। इस पर शल्य जी का आक्षेप है कि "परतः उत्पादवाद में परत-स्त्व की हेतुता नहीं हेतु की परतस्वता अभिप्रेत है, जबकि हेतुता के लिए किसी अन्य गुण की अपेक्षा है। इस अन्य गुण के साथ परतस्त्व भी अभिप्रेत है, अन्यथा इस वाद के अनु-सार कारण—कार्य—सम्बन्ध नहीं बनता।·········किन्तु नागार्जुन इस स्पष्ट बात की उपेक्षा कर परतः उत्पादवाद का अनभिप्रेत अर्थ लेकर उस पर आपत्ति उठाते हैं।"

शल्य जी के इस आक्षेप के संबंध में सोचते हुए इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि स्वतःउत्पादवाद का परित्याग कर परतःउत्पादवाद का पुरस्कार करने वाला कोई भी वादी कारणता की अन्य शर्तें परतःउत्पाद-पक्ष में ही पूरी हो सकती हैं ऐसा मानेगा जबकि ये शर्तें दोनों पक्षों के लिए एक-जैसी ही हो सकती हैं। इस बात का विचार कर माध्यमिक प्रतिवाद करता है कि ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है। कार्य के नियतपूर्ववर्तित्व जैसी शर्त परतः-उत्पाद-पक्ष में बिल्कुल पूर्ण नहीं होती क्योंकि कार्य-निरूपित-परता में कारण तथा अकारण दोनों एक जैसे ही हैं। यदि अकारण का कार्य के साथ नियत सम्बन्ध नहीं बनता तो कारण का भी नहीं बन सकता। जो कार्य से सुतरां अन्य है उसका कार्य से नियत संबंध हो ही यह कैसे हो सकता है? यहां शल्य जी को ह्यूम के कारणता-सम्बन्धी आक्षेपों की याद करनी चाहिए। ह्यूम के सब आक्षेप बौद्ध दार्शनिकों को भी अच्छी तरह ज्ञात थे यह बात नैया-यिकों ने उनका जो खंडन किया है उस पर से पता चलती है। उदयनाचार्य के आत्मतत्त्व-विवेक में इस खंडन-मंडन की विस्तृत चर्चा उपलब्ध है।

इस चर्चा के प्रसंग में शल्य जी सर्जनात्मक उत्पादन की बात कर कहते हैं कि "इसके लिए उपादान की आवश्यकता नहीं है जैसे घटावधारण की प्रथम उत्पत्ति किसी हेतु की अपेक्षा से नहीं होती, व्यक्ति, या कहें कि आत्म की उत्पत्ति अहंकार से होती है किन्तु अहंकार की उत्पत्ति किसी हेतु से नहीं होती।" (पृ.34) यह एक विवाद्य मुद्दा है। यदि इसकी विस्तृत चर्चा की जाती तो सर्जन को उक्त चार उत्पाद-विधाओं में से किस एक विधा में समा-विष्ट किया जाय इस बात का विचार किया जा सकता था।

आगे चलकर शल्य जी चित्त और दैहिक क्रियाओं के कार्य-कारण-सम्बन्ध को लेकर नितान्त परत्व तथा सापेक्ष परत्व की बात करते हैं: "यदि सापेक्ष परत्व कल्पनार्ह है जो अप-रत्व से सहचरित हो तो उसका समावेश 'द्वाभ्यां' इस विकल्प में करना होगा या कारण-

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

घटना का सूक्ष्म विश्लेषण कर उसे नितान्त पर-कारण तथा अकारण में विभक्त करना होगा जिससे परापर विभाग की निरपेक्षता बनी रहे।

अब, नागार्जुन के खंडन और उस पर शल्य जी द्वारा उपस्थित की गई आपत्तियों के एक और उदाहरण की हम यहां चर्चा करेंगे। यह खंडन गति, गन्ता और गन्तव्य सम्बन्धी है। गति की समस्या आज भी दार्शनिकों तथा वैज्ञानिकों की चर्चा का विषय बनी हुई है। नागार्जुन गति की समस्या को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि गति चेष्टा है। चेष्टा गत और अगत में नहीं हो सकती, गम्यमान् में ही हो सकती है क्योंकि जिसकी गति उपलब्ध है वह गम्यमान् है। गमन-क्रिया के योग से ही गम्यमान् का व्यपदेश होता है। किन्तु गमि क्रिया तो एक है। ऐसी अवस्था के गमन की सिद्धि के लिए गमि क्रिया का गम्यमान् के साथ पुनः सम्बन्ध कैसे होगा ? गम्यमान् में गमि क्रिया का एक समावेश ठीक है, द्वितीय के लिए अवकाश नहीं है। इस पर शल्य जी आपत्ति करते हैं कि "इस खंडन का आधार देश और काल की अनन्त विभज्यता की अवधारणा है। किन्तु देश और काल अनंततः विभज्य हैं इसके लिए क्या युक्ति है ? ये अनन्ततः विभज्य नहीं हैं इसके लिये गति की विद्यमानता को क्यों युक्ति नहीं माना जाय ? इसके अतिरिक्त, न तो देश की अनन्त विभज्यता प्रत्यक्ष-गम्य है और न काल की अनुभूतिगम्य, यह विभज्यता केवल देश और काल की उद्ग्रहणात्मक कल्पना-मूलक है और इन दोनों उद्ग्रहणों के विरुद्ध एक मुख्य युक्ति प्रत्यक्षसिद्ध गति की विद्यमानता हो सकती है। देश और काल की अनन्त विभज्यता के कथन में वास्तव में देश और काल के अस्तित्व का निषेध भी है।" (पृ. ४२)

इस कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि देश-काल का अनन्त विभाजन संभव न मानने से गति की उक्त समस्या का निराकरण हो सकता है। अनन्त विभाजन न मानने पर भी सान्त विभाजन मानने में कोई आपत्ति नहीं। यही नहीं, देश-काल का सान्त विभाजन प्रत्यक्षसिद्ध होने से उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अब प्रश्न यह होगा कि इस विभाजन का अन्त या मर्यादा क्या होगी ? कुछ दशक पूर्व काल का विभाजन सैकंड के हज़ारवें हिस्से तक भी नहीं पहुंच पाया था। आज् काल-यापन के इतने सूक्ष्म उपकरण बन गये हैं कि उनके द्वारा सैकंड के दस लाखवें हिस्से तक का निर्धारण संभव हो गया है। आज की अणु-घड़ियां इतने सूक्ष्म क्षण की नाप कर लेती हैं। देश के विभाजन में भी आश्चर्यजनक सूक्ष्मता वैज्ञानिकों ने प्राप्त कर ली है जिससे अणुओं की लंबाई की नाप एक मिलीमीटर के करोड़वें से सूक्ष्म हिस्से तक कर ली जाती है। क्या यह विभाजन अस्वीकार्य हो सकता है ? यदि नहीं तो क्या इससे भी सूक्ष्मतर विभाजन अकल्पनीय होगा ? यदि नहीं तो गति की समस्या को सूक्ष्मातिसूक्ष्म देश-काल-विभागों के पारस्परिक सम्बन्ध की समस्या से कैसे अलगाया जा सकता है ? या गति को अनन्त स्थिति-बिन्दुओं के आनुक्रमिक सन्तान से कैसे अलगाया जा सकता है ? प्रत्यक्ष-सिद्ध गति के अस्वीकार की यह समस्या नहीं है। जो प्रत्यक्ष-सिद्ध है उसके यौक्तिक उपपादन की यह समस्या है।

एक और भी समस्या उक्त समस्या में अन्तर्भूत है जिसका परवर्ती बौद्धों ने उल्लेख किया है। मान लें कि देश, काल तथा गम्यमान् वस्तु ये तीनों पार्यन्तिक रूप से विभाजित

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

किये जाते हैं जिससे इनमें परस्पर सम्बन्ध प्रस्थापित हो सकें। अब यह प्रश्न उठता है कि देश, काल एवं वस्तु के जो तीन परमाणु हैं उनमें संयोग कैसे संभव है? परमाणु में तो कोई प्रदेश हो ही नहीं सकता जिससे उसमें दायां, बायां, ऊपर-नीचे जैसा दैशिक व्यपदेश कल्पनार्ह हो। ऐसी स्थिति में तीन परमाणुओं में से एक का दूसरे के साथ संयोग कैसे घटित हो! (दो परमाणुओं की तीसरे के साथ संयोग की तो कल्पना ही असंभव होगी)।

इस समस्या का यही हल संभव है कि गति को स्थिति-विन्दुओं का क्रमनिवद्ध संस्थान माना जाय। लेकिन स्थिति-विन्दुओं के संस्थान के सम्बन्ध में अब प्रश्न उपस्थित होगा। यदि इन बिन्दुओं में पूर्ण सातत्य हो तो वह गति के विना प्राप्त नहीं हो सकता। किन्हीं भी दो स्थिति-विन्दुओं के बीच के अन्तर का स्थिति से नितान्त भिन्न गति के द्वारा ही अतिक्रमण किया जा सकता है। लेकिन गति का प्रारंभ और अंत माने बिना गति का निरूपण संभव नहीं है। इस प्रकार गति, स्थिति के विचार में अन्योन्याश्रयता का दोष टालना असंभव हो जाता है।

गम्यमान् के गमन-सम्बन्धी नागार्जुन के आक्षेप पर शल्य जी का प्रतिवाद यह है कि "घटित हो रही गमन-क्रिया ही गम्यमान् अध्व है: 'गम्यमान् अध्व' यह विशेषण-विशेष्य का संयोग नहीं होकर एक ही पद है और इसका आविर्भाव गमन-क्रिया से ही होता है—दूसरे शब्दों में, गमन-क्रिया ही गम्यमान् अध्व है। यहां तीन पद (अध्व, गमन-क्रिया और गति) और तदनुरूप तीन पदार्थ केवल उद्ग्रहणात्मक कल्पनाएं हैं। गम्यमानता, अथवा कहें घटित हो रही गमन-क्रिया ही गति है, गत अतीत अथवा स्मृत गमन-क्रिया है और अगत संभाव्य अथवा प्रत्याशित गमन-क्रिया है।"

यहां 'गम्यमान् अध्व एक ही पद है', 'गमन-क्रिया ही गम्यमान् अध्व है', 'अध्व, गमि-क्रिया और गति केवल उद्ग्रहणात्मक कल्पनाएं हैं' यह सारा साग्रह प्रतिपादन ही वास्तव में उद्ग्रहणात्मक कल्पनापरक है ऐसा यदि कोई कहे तो उस का शल्य जी के पास क्या उत्तर है? उक्त पदों के अर्थ सुस्पष्ट और प्रत्यक्षगम्य हैं। इन अर्थों के परस्पर सम्बन्ध के बारे में कुछ दार्शनिक समस्याएं उत्पन्न होती हैं इसीलिए उन्हें उद्ग्रहणात्मक मान लेना अन्य सभी दार्शनिक समस्याओं के सहज निरसन का एक उपाय सूचित करता है। लेकिन क्या इसे कोई ज़िम्मेदार दार्शनिक अपनाना चाहेगा? यह माने बिना गत्यंतर नहीं है कि गति है, अध्व है जिस पर गति या गमि-क्रिया घटित होती है, इस अध्व के गति-सापेक्ष विभाग होते हैं जिन्हें गत, अगत कहना बिलकुल सही है, और यह भी मानना अनिवार्य है कि जिस अध्व पर (या अध्वबिन्दु पर) गति घटित हो रही है (या जो गतिमत् पदार्थ से संयुक्त है) वह न 'गत' कहलायेगा न 'अगत', उसके लिये सही संज्ञा होगी गम्यमान्' गति कहां घटित हो रही है? ऐसा यदि कोई प्रश्न करे तो उसका सही सही उत्तर यही होगा कि गम्यमान् में गति हो रही है। जिसका दूसरे शब्दों में रूपांतर होगा कि 'गम्यमान् गम्यमान् है।' यदि 'गम्यमान् में गति हो रही है', यह उत्तर पुनरुक्त्यात्मक नहीं है (जैसा कि व्यवहारतः प्रकट होता है) तो 'गम्यमान् की गति' पूर्व गति से भिन्न ही माननी होगी। यही नागार्जुन के आक्षेप का मर्म है। शल्य जी के ऊपर उद्धृत वाक्य इस मर्म का स्पर्श तक नहीं करते।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इसी क्रम में नागार्जुन गमन-क्रिया का निषेध करते हुए कहते हैं कि "गमन या तो गन्ता से अभिन्न होगा या भिन्न। यदि वह अभिन्न हो तो कर्त्ता और क्रिया में अभेद हो जायगा और यदि भिन्न हो तो गन्ता घट-पट-आदि के समान गमन-निरपेक्ष हो जायगा। इस पर शल्य जी का प्रतिवाद इस प्रकार है (पृ. 88) "कर्त्ता क्रिया से भिन्न तो नहीं किन्तु उससे अतिरिक्त और इस प्रकार उससे विवेच्य है जब कि क्रिया कर्त्ता से पृथक् भी घटित हो सकती है।..............और क्रिया कर्त्ता से अभिन्न है और उसके अन्तर्गत है। ऐसी अवस्था में गन्ता कर्त्ता का अंशभूत है और कर्त्ता गन्ता से अतिरिक्त है। किन्तु यदि आप...........इन्हें इसी प्रकार परिभाषित करते हैं कि गन्तृत्व और गति परस्पर अनतिरिक्त और सापेक्ष हैं तो कहा जायेगा कि ये एक ही वस्तु का वाक्यनिर्माण के हित में द्वैधीकरण है।...........इस सबका गति के भाव या अभाव पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।"

सूक्ष्मता से विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि नागार्जुन का उपर्युक्त आक्षेप और उसका यह प्रतिवाद इनमें परस्पर सम्बन्ध ही नहीं है। नागार्जुन न यह कहते हैं और न सूचित करते हैं कि कर्त्ता और क्रिया परस्पर विवेच्य हैं या नहीं। उनकी आपत्ति वस्तु-स्थिति परक है और वह यह है कि गमन या गमि-क्रिया गन्ता से अभिन्न हो तो कर्त्ता और क्रिया अभिन्न हो जायेंगे अन्यथा गन्ता गमन-निरपेक्ष हो जायेगा। गन्ता सर्वदा गन्ता नहीं रहता। वह जब गन्ता रहता है तब उसका उसकी गमन-क्रिया के साथ अभेद होता है या भेद इस बात का स्पष्टीकरण यहां अपेक्षित है। अभेद होता है यह मान लेने पर यह कहना कि गन्ता गन्ता से अन्य भी कुछ है या गन्ता और उस की गमन-क्रिया में भेद भी (अभेद के साथ) है या गन्ता और गमन-क्रिया ये परस्पर विवेच्य हैं बिल्कुल असम्बद्ध प्रलाप है। भेद और अभेद को सहवर्ती नहीं माना जा सकता। असलियत यह है कि हम गति और गन्ता के सम्बन्ध को पूर्णतया आंतरिक मान कर भी (जिससे गति गन्ता का स्वभाव बन जाता है) गति गन्ता से भिन्न है ऐसा व्यवहार करते हैं जिससे संभ्रम पैदा होता है। इस पर न्याय-मतानुसार यह समाधान संभव है कि गन्ता का गति के साथ द्रव्य, क्रिया के जैसा सम्बन्ध है और इस सम्बन्ध के बने रहने के लिये द्रव्य और क्रिया के एकरूप होने की आवश्यकता नहीं है। क्रिया से वस्तुतः भिन्न बने रहकर भी क्रियावान् द्रव्य कर्त्ता हो सकता है। यह बात सही है लेकिन गन्ता शब्द का प्रयोग यह सूचित करता है कि गन्ता और गमन-क्रिया का सम्बन्ध द्रव्य और उसकी क्रिया के सम्बन्ध जैसा नहीं है। गमन तो गन्ता का स्वभाव ही प्रतीत होता है। अतः न गमन गन्तृ-विरहित होगा न गन्ता गमन-विरहित।

अब तक हमने नागार्जुन के प्रत्यय-परीक्षा तथा गतागत-परीक्षा सम्बन्धी तर्कों की, जिन्हें शल्य जी ने उद्भावित किया है, कुछ विस्तार से आलोचना की। इस आलोचना का उद्देश्य केवल यह जताना है कि नागार्जुन की युक्तियां उतनी सतही या शब्दच्छल रूप नहीं हैं जैसा शल्य जी द्वारा प्रस्तुत किये उनके प्रतिवाद को पढ़ने से किसी की धारणा हो सकती है। नागार्जुन की युक्तियों को अधिक गहराई से परखना आवश्यक है जिससे उन सबके मूल में जो सामान्य युक्ति है वह अच्छी तरह उभर कर सामने आये। वास्तव में नागार्जुन ने प्रत्यय, गति, अग्नीन्धन आदि की परीक्षाओं के द्वारा हमारी संपूर्ण बौद्धिक विचार-प्रक्रिया की ही

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सदोषता को उद्घाटित करने का प्रयास किया है। इस तथ्य की ओर ध्यान देना सभी दार्शनिकों के लिये विशेष रूप से आवश्यक है। हम कह सकते हैं कि जब अन्य दार्शनिकों ने विश्व के संबंध में विचार किया है तब नागार्जुन ने इन विचारों के संबंध में विचार किया है। प्रत्यय, गति आदि का परीक्षण तो इस द्वितीय स्तरीय विचार का एक माध्यम मात्र है। नागार्जुन की युक्तियों के समर्थनार्थ हमने जो तर्क प्रस्तुत किये हैं उन पर प्रतितर्क शल्य जी या अन्य कोई प्रस्तुत कर सकते हैं। इन संभाव्य प्रतितर्कों के विरुद्ध भी तर्क उपस्थित किये जा सकते हैं। तर्क-प्रतितर्क का यह सिलसिला जारी रहना यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। दार्शनिक चिन्तन की यही विशेषता है कि वह कभी किसी अंतिम, अनिवार्य निष्कर्ष तक हमें नहीं पहुंचाता। किन्तु इन तर्क-प्रतितर्कों में ही उलझे रहकर विचार-प्रक्रिया की वास्तविकता को समझने का प्रयास न किया जाय तो दार्शनिक विचार निष्फल होना अवश्यंभावी है।

नागार्जुन की सभी परीक्षाओं का अपने ढंग से विस्तृत परीक्षण कर शेष अध्यायों में शल्य जी ने नागार्जुन-दर्शन संबंधी मतमतान्तरों का विस्तृत परीक्षण किया है। श्री टी. आर.-वी. मूर्ति, श्चेर्वाट्स्की, हर्षनारायण, ठाकुर जयदेव सिंह, गोविन्दचन्द्र पांडे, वेंकट रामन आदि ने नागार्जुन की दार्शनिक भूमिका के सम्बन्ध में जो विभिन्न-मत प्रस्तुत किये हैं उनका सप्रमाण, सयुक्तिक परीक्षण कर श्री हर्षनारायण की निरपेक्ष शून्यतावादी व्याख्या का शल्य जी ने स्वतंत्रतः पुरस्कार किया है। एक ही बात इस मत प्रदर्शन में अटपटी लगती है। नागार्जुन का एक भी परीक्षण या विचार जिस व्यक्ति को मान्य नहीं है, अतः जिसने नागार्जुन के सभी पचीस परीक्षणों के खंडन का प्रयास किया है उसे, नागार्जुन निरपेक्ष शून्यतावादी हैं, सापेक्षतावादी हैं या कूटस्थ सद्वादी हैं जैसे विचार में उलझने की क्या आवश्यकता हो सकती है, यह समझ में न आने वाली बात है। फिर भी शल्य जी का यह प्रयास अनूठा और अत्यंत सराहनीय है। यह शायद पहली दार्शनिक कृति है जिसमें माध्यमिक दर्शन का विस्तृत और मूलगामी परीक्षण किया गया है।

नारायण शास्त्री द्राविड़
प्रोफेसर्ज़ कोलोनी,
हनुमान नगर, नागपुर।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भारतीय बुद्धिजीवियों के लिए विचारार्थ

उन्मीलन के प्रथम अंक के संपादकीय में हमने इस पत्रिका के प्रकाशन का प्रयोजन बताते हुए देश की सांस्कृतिक परिस्थिति के सम्बन्ध में लिखा था, किन्तु अपने साथियों की भावनाओं का ध्यान रखते हुए उतने स्पष्ट और सही शब्दों का प्रयोग नहीं किया था। वह अब मैक्सिको के एक प्रतिष्ठित और इस वर्ष के नोबल पुरस्कार से सम्मानित कवि ओक्टोवियो पाज़ ने हमारे देश को देखने के बाद लिखा है। इस पत्रिका का प्रयोजन-निदर्शक वाक्य: "मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक" भी इसी दुःखद परिस्थिति की ओर संकेत करता है। ओक्टोवियो पॉज़ के विचार यहां हम अपने इन साथियों के मननार्थ उद्धृत कर रहें हैं :

"सबसे अधिक घृणा मुझे यहाँ के अंग्रेज़ी पढ़े वर्ग से है, जो एक ओर साहित्य और संस्कृति का स्वाँग करता है, दूसरी ओर अपने ही देश की सांस्कृतिक आकांक्षाओं को नष्ट करता है। इसने कला को संग्रहालय की चीज़ बना दिया है। इसकी रुचि घटिया और भद्दी है, और यही यहां का शासक वर्ग बन बैठा है। यह पाखंडी और नक्काल वर्ग है। इसने अंग्रेज़ी साहित्य का भी अधूरा अध्ययन किया है। शेक्सपीयर इसके लिए ड्राइंगरूम की सजावट की चीज़ है। जब तक यह वर्ग बना रहेगा, तब तक भारत का साहित्य और कला विकसित नहीं हो सकते। बल्कि मैं तो यहाँ तक कहने को तैयार हूँ कि इसके रहते भारत राजनीतिक अर्थों में भी कभी स्वाधीन नहीं हो सकता। लोग यह बात भूल जाते हैं कि संस्कृति के माध्यम से भी शासन किया जाता है, संस्कृति की भाषा में भी राजनीति की इच्छाएँ व्यक्त होती हैं। ब्रिटेन और अमेरिका भारत के अंग्रेज़ीपरस्त शासक वर्ग के माध्यम से भारत में पूर्ववत् बने हुए है। भारतीयों को यह पहचानना होगा कि वे अभी भी एक दूसरे अर्थ में दास बनाकर रखे गए हैं।"

बीसवीं शताब्दी के अंधेरे में, प्रकाशक राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पुस्तक से।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection